श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पंचदशं

निरोधलक्षणम् ।

(समस्त छह संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ

एवम्

मनोज्ञा

टीका सहित)

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ प्रकाशक ❑

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

''चरणाट'' बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. ● दूरभाष : २८८४ ६५०६

वि. सं. २०६३ ● वल्लभाब्द ५२९

प्रति : १०००

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पंचदशं

निरोधलक्षणम् ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	निरोधलक्षणम् (मूल पाठ)	१
२.	श्लोकार्थ	३
३.	श्रीचाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम्	५
४.	श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतम्	१७
५.	श्रीहरिरायकृतविवृतिसमेतम्	२८
६.	श्रीवल्लभकृतविवरणसमेतम्	६२
७.	श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतम्	८२
८.	श्रीव्रजराजकृतविवरणसमेतम्	१०१

श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

निरोधलक्षणम् ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां [1]तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृंदावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसंदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां [2]तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः ॥ ६ ॥
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
[3]सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता [4]ततः ॥ ९ ॥

---

१. चेति पाठः । २. चेति पाठः । ३. सदानन्दमयस्यापीति पाठः । ४. स्वत इति पाठः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि [1]ते ॥ १० ॥
हरिणा ये निनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥
संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि [2]भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ॥ १३ ॥
तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
[3]गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
एवं ज्ञात्वा [4]ज्ञानमार्गादुत्कर्षो [5]हरिवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं[6] तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
[7]पायोर्मलांशत्यागेन [8]शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
नातः परतरः मंत्रः नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम् समाप्तम् ।

---

१. [illegible] पाठः । २. भूम्नि द्वादश योजयेदिति पाठः । ३. हरेः सुखस्पर्शादिति पाठः । ४. उत्कर्षमिति पाठः । ५. गुणवर्णने इति पाठः । ६. स्वेष्टमिति पाठः ।
७. [illegible] पाठः । ८. शेषभागमिति पाठः ।

श्लोकार्थ

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥
यशोदाजी, नन्द-आदि को एवं गोपिकाओं को गोकुल में जो दुःख हुआ, वह दुःख मुझे कब होगा ?॥ १॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ २॥
गोकुल में गोपिकाओं को एवं समस्त व्रजवासियों को जो भलीभाँति सुख हुआ, वह सुख क्या भगवान मुझे देंगे ?॥ २॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृंदावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ ३॥
वृन्दावन एवं गोकुल में उद्धवजी के आगमन पर जैसा सुमहान उत्सव हुआ, वैसा उत्सव क्या कभी मेरे मन में होगा ?॥ ३॥
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसंदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि॥ ४॥
महद्-जनों की कृपा से भगवान जब भक्त पर कृपा करेंगे, वह समय आने तक कीर्त्यमान-आनन्दसन्दोहरूप भगवान भक्त के लिये सुखकारी होते हैं॥ ४॥
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥ ५॥
महद्-जनों की कृपा से स्फुरित हुआ कीर्तन जैसा सुखदायी होता है, वैसा लौकिकजनों का कीर्तन सुखदायी नहीं होता ; इन दोनों में वही अंतर है जो गरिष्ठ भोजन एवं रूखे-सूखे भोजन में है॥ ५॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥ ६॥
गोविन्द के गुणगान में जैसी सुखप्राप्ति निरुद्धजीवों को होती है, वैसी सुखप्राप्ति तो शुक जैसे ज्ञानियों की आत्मा में भी नहीं होती, फिर गुणगान से अतिरिक्त साधनों की तो बात ही दूर रही॥ ६॥
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥ ७॥
प्रभुप्राप्ति के लिये अपने जीवों को क्लेशयुक्त देखकर जब प्रभु कृपायुक्त होते हैं, तब उस जीव के हृदय में स्थित सर्वांशपूर्ण-सदानन्द भगवान बाहर प्रकट होते हैं॥ ७॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥ ८॥
प्रभु सर्वानन्दमय हैं तथापि उनका कृपानन्द प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है ; हृदय में विराजे हुए भगवान अपना गुणगान सुनकर पूर्ण होते हुए अपने निजजनों को स्वरूपानन्द के रस से सराबोर कर देते हैं॥ ८॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः॥ ९॥
अतः सदानन्दपर-निरुद्धजीवों को सभी कुछ छोड़कर सर्वदा भगवद्गुणगान करना चाहिए, इससे जीव में सच्चिदानन्दता आ जाती है॥ ९॥
अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥ १०॥
मैं निरुद्ध हुआ हूँ, रोध के द्वारा निरोधपदवी को प्राप्त हुआ हूँ। अब आधुनिक निरुद्धमार्गियों का रोध करने के लिये

उस/तुम्हें निरोध का वर्णन कर रहा हूँ॥ १०॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

हरि ने जिन्हें छोड़ दिया है, वे इस भवसागर में डूब चुके हैं। जो निरुद्ध हैं, वे हरि के गुणगान में निरंतर आनन्द प्राप्त करते हैं॥ ११॥

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ १२॥

संसारावेश से दुष्ट बनी इन इन्द्रियों के हित के लिये समस्त वस्तुओं को भूमा-ईश्वर-श्रीकृष्ण में जोड़ देनी चाहिए॥ १२॥

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १३॥

मुरवैरि-श्रीकृष्ण के गुणों में आविष्टचित्त वालों को संसार के विरह-क्लेश नहीं होते, उन्हें हरि की भाँति सुख प्राप्त होता है॥ १३॥

तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १४॥

गुणगान में प्रवृत्त होने पर ही प्रभु की दयालुता प्रकट होती है,अन्यथा उनकी क्रूरता प्रकट होती है। गुणगान में तो बाधा की शङ्का भी नहीं है और सर्वत्र भगवान का आभास भी सिद्ध हो जाता है॥ १४॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्॥ १५॥

भगवद्-धर्म के सामर्थ्य से विषयों में वैराग्य स्थिर हो जाता है। भगवद्गुणगान द्वारा हरि के सुखस्पर्श से जीव को दुःख अनुभूत नहीं होता॥ १५॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने।
अमत्सरै अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥ १६॥

उपर्युक्त प्रकार से ज्ञानमार्ग से अधिक उत्कर्ष गुणगान में जानकर अमत्सर एवं लोभरहित जीवों के संग सदा प्रभुगुणवर्णन करने चाहिए॥ १६॥

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा॥ १७॥

हरिमूर्ति का सदा ध्यान करना चाहिए। सङ्कल्पमात्र से भी उस मूर्ति में भगवान का दर्शन-स्पर्श स्पष्टतया अनुभूत हो जाता है, वैसे ही जीव की कृति एवं गति भी स्पष्टरूप से भगवत्सेवा के योग्य बन जाती है॥ १७॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्॥ १८॥

भगवन्मूर्ति का ध्यान करने से श्रवण(वेणुनाद/भगवत्स्वर इत्यादि)-कीर्तन(भगवल्लीला के अनुसंधानसहित)भी स्पष्टतया हो जाते हैं। कृष्णप्रिय-पुत्र में रति करनी चाहिए। पायु द्वारा मलांश के त्यागपूर्वक शरीर के शेषभाग को भगवत्सेवा में जोड़ना चाहिए॥ १८॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥

जिस इन्द्रिय का भगवत्कार्य जब स्पष्टरूप से दिखाई न देता हो, तो उसका अवश्य निग्रह करना चाहिए- यह निश्चित है॥ १९॥

नातः परतरः मंत्रः नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

इस निरोधलक्षणग्रंथ से परतर कोई मन्त्र नहीं है, कोई स्तोत्र नहीं है, कोई विद्या नहीं है और कोई तीर्थ भी नहीं है॥ २०॥

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम्।

****

श्रीभागवतसुबोधिन्यामन्येषु च स्वग्रंथेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षाणाः तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

गोपिकानां त्वित्यन्तेन सर्वोत्कृष्टता स्वेष्टतमता च सूचितेति ज्ञेयम्। स्यादिति प्रार्थनायां लिङ्। क्वचिदिति दुर्लभत्वम्। तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां विरहानुभवजननार्थं यदा मथुरां गतस्तदा यद्विरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः॥ १॥

श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी एवं अन्य अपने ग्रंथों में आचार्यचरणों ने निरोध के विषय में कहा ही है अतः उस निरोध के स्वरूप को व्यक्त करते हुए निरोध सिद्ध होने के पश्चात् होनेवाले अवश्यंभावी मनोरथ का स्वरूप आपश्री प्रथमश्लोक द्वारा कह रहे हैं।

गोपिकानां तु इन पदों से ही पता चल जाता है कि पुष्टिमार्ग में गोपिकाओं के विरहभाव की सर्वोत्कृष्टता है एवं स्वयं आचार्यचरणों को गोपिकाओं का भाव अभीष्ट है यह आचार्यचरण सूचित कर रहे हैं। **स्यात्** शब्द में प्रार्थना के अर्थ में लिङ्लकार का प्रयोग है। **क्वचिद्** का अर्थ है - कभी तो ; इससे यह पता चलता है कि यशोदाजी, नन्द-आदि एवं गोपिकाओं जैसा भाव हृदय में होना बड़ा दुर्लभ है। इस प्रकार से पूरे श्लोक का भाव यह है कि- बाहर आविर्भूत हुए भगवान् मातृचरण आदि को विरह का अनुभव उत्पन्न करने के लिये जब वापस मथुरा पधारे तब उन्हें जो विरहात्मक दुःख पैदा हुआ, वह दुःख आचार्यचरण कह रहे हैं कि मुझे हो- यह अर्थ है॥ १॥

विप्रयोगदशायां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ २॥

त्विति पूर्ववदेव। यद्यपि नास्त्यत्र संशयस्तथापीष्टतमस्यार्थस्य सिद्धौ सन्देहास्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वात् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यस्याखिलप्रमाणागोचरस्येति विभावनीयम्। ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तराभिलाष इति चेत्। न। आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामस्यैवोचितत्वादुत्कृष्टसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुःसाध्यत्वादिति दिक्॥ २॥

अब विप्रयोगदशा में होनेवाले मनोरथ को आचार्यचरण अगले श्लोक में कह रहे हैं। वह मनोरथ जो ऐसे विप्रयोगी रसिकजनों के अनुभव का साक्षी आन्तरसुखसंबंधी है।

तु शब्द का अर्थ पूर्व के श्लोक की भाँति ही है। यद्यपि इस श्लोक में कहे ऐसे सुख का मनोरथ करने में कोई संशय नहीं है, तथापि जिस वस्तु की आपने अत्यधिक कामना की हो, उस वस्तु की प्राप्ति होगी कि नहीं- यह संदेह तो बना ही रहता है, और हमें अधिकांशतया यह बात अनुभूत होती है कि, हमारी इतनी बड़ी मनोकामना पूर्ण होगी या नहीं। लोकव्यवहार में भी ऐसा ही होता है और इस बात को नकारा नहीं जा सकता। फिर यहाँ तो उल्टे किसी भी साधनों प्राप्त न होनेवाले, अखिलप्रमाणों से भी

प्राप्त न होनेवाले भगवत्सुख प्राप्त करने का मनोरथ करना क्या निरर्थक नहीं ? यह शंका होती है। और तो और, सर्वप्रसिद्ध संयोगसुख को छोड़कर यहाँ केवल अन्तःकरण में सुख की अभिलाषा ही माँगी जा रही है, आचार्यचरण प्रत्यक्ष संयोगसुख क्यों नहीं माँगते ? यह शंका होती है। नहीं, ऐसी शंका मत करिए। क्योंकि विप्रयोग महाफल कहा गया है और वर्तमान की इस विप्रयोगावस्था में इसी प्रकार के आन्तसुख की अभिलाषा करनी उचित है एवं उत्कृष्ट संयोगसुख तो संयोगावस्था (विजातीयवपु अर्थात् प्रभु के बाह्यप्राकट्य की अवस्था) से ही सिद्ध हो सकता है ॥ २ ॥

अथ "सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते। तत्प्राप्तीच्छां सङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदु "रितिलक्षणलक्षितोत्कलिकाजनकोत्सवविषयकमाहुः।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यदा भगवदुक्तं वाचिकमादायोद्धवः समागतस्तदा जातो यश्च वृन्दावने रासक्रीड़ायां भगवदन्तर्धानानन्तरमाविर्भूते सति जातो यो वा गोकुले जात इत्यर्थः। सर्वेषामपि प्रत्येकं विजातीयोत्कलिकाजनकत्वेन स्पृहणीयत्वात् सर्वविषयक स इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

अब "समस्त इन्द्रियसुख का आस्वादन जहाँ माना जाता है, उस आस्वादन को, संकल्पसहित प्राप्त करने की इच्छा को विद्वान् उत्कण्ठा कहते हैं" इस प्रकार के लक्षण से लक्षित उत्कण्ठा को उत्पन्न करनेवाले उत्सव से संबंधित मनोरथ को आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं। जब भगवान् का संदेश लेकर उद्धवजी व्रज में आये, तब व्रज में जो उत्सव हुआ, वह उत्सव ; और जो वृंदावन में रासक्रीड़ा के समय भगवान् अन्तर्धान होने के पश्चात् पुनः प्रकट हुए, तब जो उत्सव हुआ, वह उत्सव ; अथवा गोकुल में भगवान के प्रकट होने पर जो उत्सव हुआ, वह उत्सव मेरे मन में कब होगा ? यह आचार्यचरण कह रहे हैं। उद्धवजी को आया देखकर समस्त व्रजवासियों में से प्रत्येक व्रजवासी के मन में ऊपर कहा गया संयोगदशा को उत्पन्न करनेवाला उत्सव हुआ क्योंकि उद्धवजी का डील-डौल ठीक भगवान् जैसा ही दिखाई देता था अतः उन्हें लगा कि भगवान् ही वापस आ गये हैं अतः यह उत्सव समस्त व्रजवासियों को हुआ- यह ध्यान रखिए ॥ ३ ॥

अवान्तभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसंदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

"अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव" इति प्रभुचरणोक्तिरनुसंधेया। तथाच महत्पदवाच्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः। सुखायेति। सुखजनकं स्यादित्यर्थः। सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यल्लीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तल्लीलासहितो हृद्याविर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः ॥ ४ ॥

ऊपर कहे मनोरथ के अन्य अवान्तर भेद से युक्त जो हृदयविषयक मनोरथ हैं, उन्हें आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं। इस श्लोक को समझने के लिये प्रभुचरणों की "इस पुष्टिमार्ग में स्वामिनी ही गुरु हैं " इस उक्ति का अनुसंधान रखना चाहिए। अतः यहाँ "महत्" पद से वही कही जा रही हैं ; उनके जैसे गुरुओं की कृपा से भगवान् दया करेंगे, यह आशय है। दया करने पर भगवान् सुखदायी होंगे, यह अर्थ है। सुखसमूहरूप भगवान् का जिन-जिन लीलाओं के अनुसंधान में कीर्तन किया जाता है, उन-उन लीलासहित हृदय में आविर्भूत होते हुए वे भक्त के अन्तःकरण में आनन्द अनुभव कराते हैं, यह आशय है ॥ ४ ॥

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि सुखं स्यात् ,न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टृणां कृपयेत्यर्थः। एषां मर्यादास्थत्वेनोत्कृष्टपुष्टावप्रवेशात्। तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टांतमाहुः स्निग्धेति। रूक्षपदेन रूक्षभोजनम्। तथा च स्निग्धभोजनयोस्तारतम्येन सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः। एवंच महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं मे हृदि सुखजनकं भवत्वित्थं मनोरथ इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ऐसे समय में आपश्री विजातीय कीर्तन के विषय में अगले श्लोक में कह रहे हैं।

आपश्री का यह तात्पर्य है कि, स्वामिनीयो(गोपिकाओं)की कृपा से हृदय में जो, जैसा स्फुरित हुआ भगवान् का कीर्तन है, वही सदा सुखकारी होता है, अर्थात् गोपिकाओं की कृपा से जब, जैसी प्रभु की लीला का अनुसंधान हुआ, वैसी लीला के अनुसंधान से जैसा कीर्तन अपने आप हमारे मन में स्फुरित हुआ, वह कीर्तन सदा सुखकारी होता है। विधिगत, परंपरा से चले आ रहे वही के वही कीर्तनों का उपदेश करनेवाले लौकिकजनों से प्राप्त हुआ कीर्तन सुखकारी नहीं होता, यह अर्थ है, क्योंकि लौकिकजन मर्यादामार्गीय हैं अतः उत्कृष्ट पुष्टि में उनका प्रवेश ही नहीं है। गोपीजनों की कृपा से स्फुरित हुए कीर्तन एवं लौकिकजनों से प्राप्त हुए कीर्तन में भेद बताते हुए आचार्यचरण इन दोनों कीर्तन में होनेवाले सुख के तारतम्य को **स्निग्ध** इत्यादि शब्दों से दृष्टांत द्वारा कह रहे हैं। रूक्ष पद का अर्थ है- रूखा भोजन। सो, स्निग्धभोजन एवं रूखे भोजन में भेद होने के कारण इन दोनों प्रकारों के भोजन के सुख में जो अन्तर है, वही अन्तर गोपिकाओं की कृपा से स्फुरित हुए कीर्तन में एवं लौकिकजनों के कीर्तन में भी है, यह भाव है। अतः ध्यान दीजिए कि आचार्यचरण "गोपीजनों की कृपा से स्फुरित होने वाला कीर्तन ही मेरे मन में सुखकारी हो" इस प्रकार का मनोरथ कर रहे हैं॥ ५॥

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेपि अश्रुपुलकादिनां सत्वात् कथमत्रैवाग्रह इत्याशंकाभासस्य समाधानमाहुः।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥ ६॥

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यस्वामिन इति यावत्। गुणगाने क्रियमाणे यथा आनन्दो भवति तथा विरक्तानां ब्रह्मभावापन्नानां शुकादीनामपि आत्मनि न भवति, किमुतान्यत्रेत्यर्थः॥ ६॥

अब यहाँ किसी को यह शंका आभासित हो सकती है कि, मर्यादामार्गीय कीर्तन में भी भावावेश में भक्तों के अश्रु बहने लगते हैं, वे भी इन कीर्तनों का आनंद लेते ही हैं, फिर आपश्री पुष्टिमार्गीय पद्धति से ही कीर्तन करने का आग्रह क्यों रख रहे हैं ? तो इस शंका का समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

यहाँ **गोविंद** का अर्थ है - गायों एवं गोकुल के पति, अनन्य गोकुल के स्वामी भगवान्। ऐसे गोविन्द का गुणगान करने में जैसा आनंद होता है, आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, वैसा आनंद तो शुकदेवजी जैसे ब्रह्मभाव को प्राप्त करने वाले विरक्तों की भी आत्मा में स्फुरित नहीं होता, फिर दूसरों की क्या बात करें ? यह अर्थ है॥ ६॥

एवं निरोधसाधनीभूतभावविषयकं निरोधावश्यंभावसूचकं मनोरथमुक्त्वेदानीं तादृशमनोरथविषयीभूते दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तरं सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥ ७॥

भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्राप्यन्वेति। यदा कृपालुर्भवेत् तदा विरहदुःखानुभवितृहृदयस्थितं सदानन्दं भगवत्स्वरूपं सर्वं सर्वांशेन मायोद्घाटनेन अयोगोलके वह्निवत् किञ्चित्कालं हृदय एव बहिराविर्भवेदित्यर्थः॥ ७॥

इस प्रकार से आचार्यचरण निरोध के साधनीभूत भावविषयक.......निरोध के पश्चात् निश्चितरूप से होनेवाले मन के मनोरथ को कहकर, अब अग्रिम श्लोक में यह कह रहे हैं कि, इस प्रकार के मनोरथ में जब भक्त को विरह होता है और उसे दुःख होता है , तब कभी भगवान् कृपा करके उसे आन्तरिक सुख भी देते हैं।

यद्यपि इस श्लोक के प्रथमचरण में ही "भवेत् (होते हैं)"क्रिया है और दूसरे चरण में नहीं है, तथापि देहलीदीपन्याय से इस क्रिया को दूसरे चरण में भी जोड़कर अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार से करने से पूरे श्लोक का अर्थ यह बनेगा कि, जब भगवान् भक्त पर कृपालु होते हैं, तब विरहदुःख का अनुभव करनेवाले जीव के हृदय में स्थित सदानन्द-भगवत्स्वरूप सर्वांशतया(सर्वं)माया का आवरण हटाकर लोहे के गोले में अग्नि की भाँति कुछ समय के लिए हृदय में ही व्याप्त होकर तत्पश्चात् हृदय में ही सर्वत्र प्रकट हो जाते हैं, यह अर्थ है। "अयोगोलक" के विषय में समझने के लिए कृपया श्रीपुरुषोत्तमजी की टीका में १७वें श्लोक की व्याख्या देखें। तात्पर्य यह कि जैसे लोहे के गोले में सर्वत्र अग्नि प्रकट हो जाती है, वैसे ही भक्त के हृदय में सर्वत्र भगवान् प्रविष्ट हो जाते हैं॥ ७॥

"ननु श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ती"त्यादिमर्यादामार्गीयश्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्कोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्याशंक्याहुः।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥ ८॥

क्लेशं विना कृपानन्दो नेत्याशयः। तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः हृद्गत इति। स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनाप्लुतान् करोतीत्यर्थः। यथा बाह्यरमणे रासक्रीड़ायां विरहानुभवानन्तरं "जयति तेधिकं जन्मने"त्यादिना कृते गुणगाने कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दः प्रायच्छत्, तथात्राप्यान्तररमणे संकल्पप्रतिभातो भगवान् भजनानन्दस्य कञ्चन लेशं ददातीत्याशयः। यद्यपि "गतिस्मितप्रक्षणे"त्यत्र गुणगानं नोक्तमान्तररमणे, तथापि बाह्यरमणानन्तरमन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमास्ताम्, परन्तु साधनदशायामेतत्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव सरणिरिति ध्येयम्।

अब शंका यह होती है कि, "वे भक्त श्रवण करते हैं, गाते हैं, प्रभुनाम का उच्चारण करते हैं, वारंवार स्मरण करते हैं। वे ही आपके उस चरणकमलों का दर्शन कर पाते हैं, जो जन्ममृत्यु के प्रवाह को सदा के लिये देते हैं(श्री०भा० १-८-३६)" इस वाक्य के अनुसार मर्यादामार्गीय श्रवण-आदि से भी भक्तों को आनंद प्राप्त होता ही है एवं भगवान् का आविर्भाव होता ही है, फिर आचार्यचरण यहाँ इन सबको छोड़कर केवल दुःख अनुभव करने का ही आग्रह क्यों रख रहे हैं ? इसका समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

आपश्री का आशय यह है कि क्लेश के बिना कृपानंद प्राप्त नहीं होता। किंतु शंका यह है कि, फिर भगवद्गुणगान का क्या फल है ? तो इसे आप हृद्गतः इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि भगवान् अपने गुणगान को सुनकर कृपा द्वारा पूर्ण होते हुए उस भक्त को स्वरूपानंद से प्लावित कर देते हैं, यह अर्थ है। जिस प्रकार बाह्यरमण में, रासक्रीड़ा में भगवान् ने गोपिकाओं को विरह का अनुभव कराने के पश्चात् " हे भगवान् ! आपके व्रज में जन्म लेने के कारण व्रज की महिमा अधिक बढ़ गयी है(श्री०भा० १०-३१-१) इत्यादि वाक्यों द्वारा गोपिकाओं द्वारा किये गये गुणगान को सुनकर कृपा से पूर्ण होते हुए उन्हें स्वरूपानंद का दान दिया था, उसी प्रकार यहाँ भी जब भगवान् भक्त के हृदय में आन्तररमण करते समय मन में किये गये संकल्प के अनुरूप प्रकट हुए (अर्थात् भक्त ने अपने मन में प्रभु के जिस स्वरूप की भावना की है, उसी के अनुसार प्रकट होकर) भगवान् अपने भजनानंद का कुछ अंश प्रदान करते हैं, यह आशय है। यद्यपि "भगवान् के अन्तर्धान होने के पश्चात् गोपियाँ चाल-ढाल, हास-विलास में कृष्ण के समान ही बन गयीं। वे अपने-आप को भूल कर "मैं कृष्ण हूँ" यों कहने लगीं(श्री०भा० १०-३०-३)" इस श्लोक में गोपिकाओं के अंतर में जब प्रभु ने रमण किया, तब गोपिकाओं ने प्रभु का गुणगान किया था, यह नहीं कहा गया है, तथापि प्रभु द्वारा बाह्यरमण के पश्चात् अंतर्धान हो जाने के पश्चात् प्रभु ने गुणगान के बिना ही गोपिकाओं को आन्तरसुख दिया था, यह बात सच है फिर भी यहाँ यह समझने का प्रयास करें कि अभी जीव की साधनदशा है, गोपिकाओं की भाँति फलदशा तो है नहीं अतः इस साधनदशा में इसी शरीर में आत्मा भी है अतः इस आत्मा के आनंद के लिये तो यही गुणगान ही एक मार्ग है, यह ध्यान रखें।

ननु विकलत्वास्वास्थ्यनाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न। विप्रयोगस्यैवोद्बोधकमिदमान्तरमित्यधिकतरास्वास्थ्यविकलत्वयोर्जनकमेव। तथा चोक्तं श्रीमद्व्रजरत्नपृष्टेन श्रीगोपीजनवल्लभेन "यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे"ति। तथा च किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्याल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते भगवत्स्वरूपे संयोगरसस्वादुलाभः। ततस्तदनवाप्तेरधिकतममस्वाथ्यं विकलत्वं च भवतीति ध्येयम्॥ ८॥

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, जब भक्त भगवद्विरह में विकल हो रहा हो और उसे अस्वस्थता लग रही हो, तब ऐसे समय में उसकी अस्वस्थता ही भगवान् का प्राकट्य करा सकती है। किंतु इस दशा में भगवान् का उसके अन्तःकरण में रमण करना तो और उसकी विकलता एवं अस्वस्थता को ठंढा कर देगा अतः इस दशा में भगवान् का आन्तररमण करना उचित नहीं ठहराया जा सकता। नहीं, ऐसी शंका मत करिए। क्योंकि भगवान् का आन्तररमण करना भी आखिरकार विप्रयोग-अवस्था का ही बोधक है एवं और उल्टे और अधिक विकलता एवं अस्वस्थता उत्पन्न करता है। इसी कारण श्रीव्रजरत्न-श्रीगोपीजनवल्लभ-श्रीकृष्ण ने गोपीजनों के पूछने पर "जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत सारा धन मिल जाय और फिर खो जाय, तो उसका हृदय उस खोये हुए धन की ही चिन्ता से भर जाता है, वैसे ही मैं तुमसे मिलकर छुप जाता हूँ, ताकि तुम्हें वारंवार मेरा चिंतन होता

रहे(श्री०भा० १०-३२-३०)" यह कहा। अतः भगवान् का आन्तररमण के समय कुछ समय के लिये आविर्भूत होना ठीक वैसे ही है, जैसे किसी निर्धन को अल्प समय के लिये कुछ धन मिल जाये और फिर वापस खो जाय। इससे उसकी धनपिपासा और अधिक बढ़ती ही है। ठीक इसी प्रकार जब भक्त को संकल्प से प्रतिभासित भगवत्स्वरूप में संयोगरस के आस्वादन की प्राप्ति होती है, तब इस अल्पकालीन संयोगरस की प्राप्ति के पश्चात् जब पुनः प्रभु का संयोग प्राप्त नहीं होता तो, उसकी अस्वस्थता एवं विकलता और बढ़ती ही है, यह ध्यान रखें॥ ८॥

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः॥ ९॥

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः **सदानन्दपरैः** श्रीकृष्णमात्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ स्वतोऽनभिलषितापि सच्चिदानन्दता स्फुरतीत्यर्थः। तथा च गुणगानं तु कृपोद्रेकजननार्थमेवेयं तु स्वत एव भवतीति भावः॥ ९॥

इस प्रकार से भगवान् की प्रचुरकृपा को उत्पन्न करने वाला भगवद्गुणगान परम आवश्यक है - यह कहने के लिये आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

निरुद्धैः का अर्थ है - पुष्टिमार्गियों को। **सदानन्दपरैः** का अर्थ है - केवल श्रीकृष्ण में निष्ठ अन्तःकरण वाले को जीवों को। ऐसे जीवों को न चाहते हुए भी उनमें सच्चितानंदता प्रकट हो जायेगी, यह अर्थ है। भगवद्गुणगान तो भगवान् की प्रचुरकृपा को उत्पन्न करने के लिये किया जायेगा परंतु सच्चिदानंदता तो अपने-आप प्रकट हो जायेगी, यह भाव है॥ ९॥

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य स्वानुभवमेव प्रमाणमाहुः।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्॥ १०॥

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं **रोधेन** भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलेभ्यो निवृत्त्या **निरोधपदवीं** निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् **निरुद्धानां** पुष्टिमार्गीयाणां **रोधाय** रोधसिद्ध्यै यदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं **निरोधं** कथयामीत्यर्थः। ते इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्कावन्तमभिमुखीकृत्य ते तुभ्यं कथयामीत्यन्वयः।

परंतु यहाँ शंका यह होती है कि, भला इस प्रकार भगवद्गुणगान करने से भगवत्कृपा सिद्ध हो जायेगी अथवा तो सच्चिदानंदता प्राप्त हो जायेगी, इस कथन में क्या प्रमाण है ? अतः आचार्यचरण उपर्युक्त अलौकिक प्रकार को प्रमाणित करने के लिये अग्रिम श्लोक में स्वयं अपने ही अनुभव को कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, मैं पुष्टिमार्ग में निरुद्ध हुआ, भजनानंद के अतिरिक्त जितने फल हैं, उनकी निवृत्ति करके निरोधपदवी को प्राप्त हो गया हूँ अर्थात् निरोध का आधारभूत हो गया हूँ। अर्थात् निरोध के सर्वोच्च स्थान को प्राप्त हो गया हूँ। और अब पुष्टिमार्गीयों को निरोध कराने के लिये निरोध के जिस उच्च स्तर को मैं प्राप्त हुआ हूँ, उस निरोध के स्वरूप को कह रहा हूँ -यह अर्थ है। यदि "तम्" पाठ के स्थान पर "ते" पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह बनेगा कि, आचार्यचरणों के समक्ष किसी जीव ने निरोध के संदर्भ में कुछ प्रश्न/शंका की होगी और आपश्री उस शंका का समाधान करते हुए उस जीव के लिये निरोध का स्वरूप कह रहे हैं।

ननु निरोधस्य भगवताग्रे संपादयिष्यमाणत्वान्निरुद्धानामिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत् ,न। भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवंविधस्वरूपानन्ददित्सायां सम्प्रदानत्वेन विषयीभूते पुष्टिजीवे सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगे न काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम्। ननु कोयं रोधः,को वा निरोधः इति चेत् , उच्यते। लोकवेदसमाधिभाषाप्रसिद्धपशुपुत्रादिपुरुषोत्तमसायुज्यान्तयावत्फलेभ्यो निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वानिबन्धना भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिबन्धना भगवत्परता निरोधः। रोधे भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः, किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्ययमेव नितरां रोधो यत्स्वात्मनोपि निवृत्तिः। तथा च रोधनिरोधयोरयं भेदः।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, अभी तो आचार्यचरणों के उपदेशों का श्रवण-मनन करने के पश्चात् तदनुसार आचरण करने के बाद भगवान् जीव को निरोध संपादित करेंगे, तो फिर आचार्यचरण अभी से उन जीवों को "निरुद्ध" कहकर क्यों

संबोधित कर रहे हैं ? नहीं, ऐसी शंका उचित नहीं है। क्योंकि यदि भगवान् ने पुष्टिजीव को अपने स्वरूपानंद का दान देने की इच्छा की है, तो वह इच्छा सांसारिक विषयों से व्यभिचरित नहीं होती अर्थात् भगवद्-इच्छा टल नहीं सकती, वह सिद्ध ही है। अतः यदि आचार्यचरणों ने पुष्टिमार्गीयों के लिये निरुद्ध पद का प्रयोग किया है, तो वह निःसंदिग्धरूप से उचित ही है, यह ध्यान रखें। प्रश्न यह उठता है कि, आखिरकार यह निरोध है क्या ? अथवा तो निरोध किसे कहते हैं ? उत्तर यह है कि, लोक में कहे गये, वेद में कहे गये, भागवत की समाधिभाषा में कहे गये धन-संपत्ति, पुत्र-परिवार से लेकर पुरुषोत्तम के सायुज्य प्राप्त होने तक जितने भी फल हैं, उनसे मुक्ति ले लेना, अर्थात् उनकी अभिलाषा न रखनी "रोध" कहलाता है। एवं इस प्रकार के रोधपूर्वक अपनी आत्मा से प्रियत्व न रखते हुए केवल भगवान से प्रियत्व रखते हुए जो भगवत्परता उत्पन्न होती है, उसे निरोध होना कहते हैं। यहाँ टीका में "उपाधि" शब्द का अर्थ है - मूलहेतु, कारण। समझें कि इस जगत में किसी भी वस्तु से प्रेम करने की उपाधि या मूलकारण हमारी अपनी आत्मा है। हम अपनी आत्मा से प्रेम करते हैं, इसी कारण हम सबसे प्रेम करते हैं। प्रेम करने में उपाधि हमारी आत्मा है। रोध में तो भजनानंद-श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जीव को किसी भी प्रकार के फलों की अपेक्षा नहीं रहती परंतु निरोध होने पर तो स्वयं अपने-आप की भी अपेक्षा जीव को नहीं रहती। क्योंकि निरोध सिद्ध होने पर भगवान् हमें इसलिये प्रिय नहीं लगते कि वे हमारे स्वार्थ को पूरा करेंगे, अपितु हमें अपनी आत्मा भी भगवान् के लिये ही प्रिय लगने लगती है। भगवान् भी भगवान् होने के कारण ही प्रिय लगते हैं, निजी स्वार्थके कारण नहीं। यही परिपूर्ण रोध है कि जिसमें अपनी आत्मा से भी हमारी निवृत्ति हो जाती है। रोध एवं निरोध में यही भेद है।

इत्थं च "न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवती"ति श्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव प्रियत्व-म् , तन्निबंधनैव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवतश्च प्रियत्वे भगवानेवोपाधिरिती भगवन्मात्रोपाधिनिबन्धनैव भगवद्विषयिणि प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्साविषयीभूते जीवे पूर्वं रोधः सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यते इति भावः।

यही बात "पुत्र इसलिये प्रिय नहीं लगता क्योंकि वो हमारा पुत्र है, बल्कि इसलिये प्रिय लगता है क्योंकि वो हमारी आत्मा को सुखकारी लगता है(बृहदा० २-४-५)" इस श्रुति में कही गयी है कि, अपनी आत्मा को प्रिय लगने के कारण हमें सभी कुछ प्रिय लगता है। आत्मा में प्रीति होने के कारण ही सभी वस्तुओं को प्राप्त करने में हमारी प्रवृत्ति होती है। परंतु यहाँ निरोधदशा में अपनी आत्मा से प्रेम करने का मूलकारण एवं भगवान् से भी प्रेम करने का मूलकारण भगवान् ही हैं। अतः इस कारण निरुद्धजीव की केवल भगवद्विषयों में ही प्रवृत्ति होती है। भगवान ने जिस जीव को भजनानंद देने की इच्छा की है, उसमें वे पहले रोध का संपादन करते हैं एवं तत्पश्चात् निरोध का।

ननु निरोधो भगवतः क्रीड़ा, तत्कथमिति लक्षणमिति चेत् , न। रोधनिरोधयोः संपादनमपि भगवतो विशिष्टक्रीड़ायामेव निविशते, न त्वतिरिच्यत इति दिक्। तर्हि रोधस्य भगवदेकसंपाद्यत्वे रोधसिद्धयर्थं श्रीमदाचार्यकर्तृकं निरोधवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इति चे-त् , न। "नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धीशायिन"मित्युक्ते"निरोधपदवीं गतः" इत्युक्तेश्चानवरतमन्तःकरणे श्रीमद्गोपीजनवल्लभो भगवान् रममाणस्तिष्ठति। तथा चान्तःकरणस्थो भगवानेवाचार्याणामाननसरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणकरोधसिद्धयर्थं निरोधं वर्णयामीति वदतीति ध्येयम्।

परंतु यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, निरोध तो भगवान् की क्रीड़ा है, फिर निरोध का यह लक्षण जो आपश्री ने बताया है, वह कैसे हो सकता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। भगवान् द्वारा रोध-निरोध का संपादन करना भी भगवान् की विशिष्ट क्रीड़ा के अन्तर्गत ही है, न कि उससे भिन्न। तो फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब केवल भगवान् ही रोध का संपादन करते हैं तो, फिर आचार्यचरण यहाँ इस ग्रंथ में निरोध का वर्णन क्यों कर रहे हैं ? यहाँ यह समझना चाहिए कि "मेरे हृदय में विराजे हुए श्रीकृष्ण को मैं नमन करता हूँ(मंगला-४)" एवं "मैं निरोधपदवी को प्राप्त हो चुका हूँ(इसी ग्रंथ की पंक्ति)" इत्यादि पंक्तियों से सिद्ध होता है कि आचार्यचरणों के अन्तःकरण में स्वयं भगवान् निरंतर विराजे हुए हैं एवं अन्तःकरण में रमण करते हुए विराजे हुए भगवान् ही आचार्यचरणों के मुखकमल द्वारा पुष्टिजीवों को निरोध का लक्षण कह रहे हैं, यह ध्यान रखना चाहिए।

उक्तश्चेत्थंभूतोर्थः श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धस्य प्रथमाध्याय"स्यैतन्निशम्य भृगुनन्दन साधुवादम्। वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरात"मित्यस्य श्लोकस्य विवरणे "भगवता सहितः तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छती"त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन "वाण्या तदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हे"ति सर्वोत्तमे श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेर्भगवन्मुखारविन्दमेव

श्रीमदाचार्या इति तदीयैरविरतमाकलनीयमिति दिक्।

कुछ इसी तरह की बात आचार्यचरणों ने दशमस्कंध के प्रथमाध्याय में "एतन्निशम्य(श्री०भा० १०-१-१४)" इस श्लोक के व्याख्यान में कही है। श्रीमद्भागवत में तो इस श्लोक में "स भगवान्" यों पाठ है परंतु आपश्री ने सुबोधिनी में "सभगवान्" यों पाठ माना है। "सभगवान्" का अर्थ करते हुए आपश्री लिखते हैं - भगवान् सहित अर्थात् शुकदेवजी के अन्तःकरण में स्थित होकर स्वयं भगवान् ही परीक्षित् के प्रश्नों के उत्तर दे रहे हैं। यही बात यहाँ भी लागू होती है। ठीक इसी प्रकार प्रभुचरणों ने भी सर्वोत्तम में आचार्यचरणों को "जब हरि को अपना माहात्म्य वाणी द्वारा प्रकट करने की इच्छा हुई तब उन्होंने अपने मुखारविन्द-स्वरूप आचार्यचरणों को प्रकट किया (सर्वो०-३)" इस पंक्ति में भगवान् का मुखारविन्द ही बताया है अतः पुष्टिमार्गियों को निरंतर इसी बात का अनुसंधान रखना चाहिए।

इत्थं च भगवानेव निरोधवर्णनेन निरोधस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमुत्पाद्योक्तफलेभ्यो निवर्तयतीति भगवत्सम्पाद्यत्वं रोधस्येति सर्वं सुस्थम्। वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यच्च फलं तत्सर्वं वरणैकलभ्यत्वाद्भगवदेकसाध्यमेवेति किमेभिरसत्तर्कैरिति भाग्यवद्भिर्विभावनीयम्। निरुद्धानां त्विति तुशब्दादन्यार्थं न वर्णयामीति भावः॥ १०॥

इस प्रकार ऊपर कही पंक्तियों के अनुसार आचार्यचरणों के माध्यम से भगवान् ही निरोधवर्णन करते हुए निरोध को सर्वोत्कृष्ट बता कर अन्य दूसरे फलों को हटा रहे हैं अतः इस रोध का संपादन भी भगवान् द्वारा ही हुआ, यह समझना चाहिए। वास्तव में तो यहाँ पुष्टिमार्ग में जो कुछ भी साधन है, जो कुछ भी फल है, वह सभी कुछ भगवान् द्वारा वरण किये जाने पर ही प्राप्त होता है एवं केवल भगवान् द्वारा ही साध्य है अतः भाग्यवान पुष्टिजीवों को व्यर्थ में तर्क-कुतर्क से क्या लाभ ? यह विचार करिए। **निरुद्धानां तु** इन शब्दों से ज्ञात होता है कि, आचार्यचरण निरोध के स्वरूप का वर्णन केवल पुष्टिमार्गीयों के लिये ही कर रहे हैं, दूसरों के लिये नहीं - यह भाव है॥ १०॥

ननु कुतः सर्वार्थं न निरूप्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

सर्वदुःखहर्त्रापि येऽन्यविषयेभ्यो विमोच्य स्वस्वरूपलिप्सवो न कृतास्तेषां मंदभाग्यानामर्थे कथं निरूपणीयमिति भावः। यद्यपि तेषां मार्गान्तरेण यत्किञ्चिदपि फलं जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तफलेषु सामान्यबुद्धिरेव श्रीमदाचार्याचरणानामत एव भवसागरे मग्ना इत्यूचिरेतराम्। श्रीमद्भागवतेपि "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" इति॥ ११॥

किंतु आचार्यचरण सभी के लिये निरोध का वर्णन क्यों नहीं कर रहे हैं ? यह बात अग्रिम श्लोक से स्पष्ट हो जाती है।

केवल पुष्टिजीवों के लिये निरोधस्वरूप का वर्णन करने का आशय यह है कि, भले ही भगवान् सर्वदुःखहर्ता हैं तथापि उन्होंने जिन जीवों को अन्य सांसारिक विषयों से छुड़ा कर उनमें उनके स्वरूप की लिप्सा उत्पन्न नहीं की, ऐसे मंदभागी जीवों के लिये आचार्यचरण निरोध का वर्णन क्यों करें ? यह भाव है। यद्यपि ऐसे जीवों को अन्य मार्गों से यत्किञ्चित् फल तो प्राप्त होगा, तथापि इस निरोधफल के अतिरिक्त दूसरे सभी फलों को आचार्यचरण साधारण ही समझते हैं। इसी कारण आपश्री ने ऐसे जीवों को भवसागर में डूबे हुए बताया है। श्रीमद्भागवत में भी इसी कारण "जो लोग भगवान् के शरणागत होते हैं, वे किसी से भी नहीं डरते। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरकों में भी एक भगवान् के ही समानभाव से दर्शन होते हैं(श्री०भा० ६-१७-२८)॥ ११॥

भावनासाधनीभूतां साधनतापन्ननिरोधपदवाच्यां भावनामाहुः।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ १२॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसन्नत्वाद् दुष्टानां चक्षुरसनादिज्ञानेन्द्रियाणां निषिद्धनानाक्रियाजनकानां कर्मेंद्रियाणां तत्तद्दोषनिरसनपूर्वकं तत्तत्फलसिद्ध्यै सदानन्दस्य सर्वान् रूपादीन् पदार्थानाम् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थः।

अब इसके पश्चात् अग्रिम श्लोक में आचार्यचरण भगवद्भावना को सिद्ध करने वाली, निरोध की साधनदशा में होने वाली भावना को इस श्लोक से कह रहे हैं।

रूप-रस आदि तन्मात्राओं में रची-पची होने के कारण दुष्ट बनी इन चक्षु, रसना आदि ज्ञानेन्द्रियाँ एवं विविध प्रकार के

निषिद्ध क्रियाओं को उत्पन्न करने वाली कर्मेन्द्रियों के दोषों को दूर करके उन-उन इन्द्रियों की सार्थकता के लिये उन-उन इन्द्रियों से जुड़े समस्त रूप-पदार्थों को सदानन्द श्रीकृष्ण में जोड़ देने चाहिये, यह अर्थ है।

नन्वनवरतमन्तरङ्गभक्तैर्भज्यमानस्य भगवतस्तत्र तत्रोपयुक्ताः सर्वे पदार्थाः कथं योजयितुं शक्या इत्याशङ्कायामाहुः भूम्न इति। ईशस्य सर्वसमर्थस्य भूम्नः बहुत्वात्। तथा च युगपदनेकेषु **स्थलेषु मायोद्घाटनेन** आविर्भवति भगवति **सर्वमुपपद्यत इति** भावः। **योजनप्रकारस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥ १२ ॥**

परंतु यहाँ एक संदेह यह होता है कि भगवान् तो अप्राकृत हैं एवं नित्यलीला में, निकुंज में तो वह अलौकिक देहधारी अप्राकृत अंतरंग भक्तों के द्वारा सेवित हैं, तो ऐसे अप्राकृत एवं अलौकिक भगवान् में इन लौकिक एवं प्राकृत इन्द्रियों को जोड़ देना कैसे संभव बन सकता है ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण **भूम्नः** शब्द से दे रहे हैं। सर्वत्र विद्यमान होने के कारण भगवान् को भूमा कहा जाता है। कारण कि भगवान् ईश्वर हैं, सर्वसामर्थ्यवान हैं, भूमा हैं अतः जहाँ भक्त चाहेगा, वहाँ प्रकट हो जायेंगे - यह भाव है। एक काल में अनेक स्थलों पर माया को दूर करके आविर्भूत होने वाले भगवान् के लिये सभी कुछ संभव है, यह भाव है। अब अपनी इन्द्रियों को भगवान् में कैसे जोड़नी ? यह आचार्यचरण आगे के श्लोक में बतायेंगे ॥ १२ ॥

ननु मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिविषयवैराग्यजनकमविदितदुःखं विहाय कथमेवंविधप्रकारे प्रवृत्तिजयितेतिशङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे यत्परमफलं तदत्र गुणवर्णकस्य निबिडाच्छन्ननौकया गच्छतोऽनाशास्यमानशीतसदागतिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तरं फलमित्याहुः।

यहाँ शंका यह होती है कि, समस्त इन्द्रियों को भगवान् में जोड़ने की अपेक्षा तो केवल मन को ब्रह्म में जोड़ देना अधिक ठीक लगता है। ऐसे ब्रह्म के निर्विघ्न स्वरूप में रूप-रस आदि सांसारिक विषयों से वैराग्य लेकर उसमें मन लगाना कोई अधिक कष्टसाध्य नहीं है, तो ऐसे ब्रह्मस्वरूप में ही मन को जोड़ देने से ही बात बन सकती हो, तो फिर समस्त इन्द्रियों को ब्रह्म में जोड़ देने की प्रवृत्ति किसी में कैसे उत्पन्न हो सकती है ? इस शंका का निराकरण आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि ज्ञानमार्ग में जिसको परमफल कहा जाता है, वह परमफल तो भगवद्गुणगान करनेवाले को अवान्तरफल के रूप में इस मार्ग पर चलते-चलते मध्यमार्ग में ही प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के रूप में, जैसे कोई बादलों से घनीभूत वातावरण में नौका से कहीं जा रहा हो, तो वहाँ चलने वाली ठंडी हवा का सुखकारी स्पर्श तो उसे होगा ही। फिर भले ही उसका प्रयोजन ठंडी हवा का सुख लेना न हो और अगले किनारे अपनी मंजिल तक पहुँचना हो। वह सुख तो उसे बिना प्रयास किये अपने आप ही मिल जायेगा। ठीक इसी प्रकार ज्ञानमार्ग में कहा जाने वाला सुख तो इस गुणगान के मार्ग पर चलने वाले जीव को बिना इच्छा किये ही मिल जाता है।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ॥ १३ ॥

संसारस्य विरहो लौकिकविषयवियोगजन्यं दुःखं क्लेशो रोगादिजन्यो द्वावपि न भवेतामित्यर्थः। न हि क्षारं कूपपानीयं पिबतः पामरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ तादृशकूपपानीयविरहो दृष्टः श्रुतो वा। एवं प्रकृतेप्यवसानविरसान् नश्वररूपादीन् भुञ्जानस्य स्वरूपानन्दानुभवसम्पत्तौ न संसारविरह इति भावः। हरिवदिति। स्वरूपानन्दो यो भगवतानुभूयते स एवानेनेति भावः ॥ १३ ॥

तात्पर्य यह है कि, प्रभु के गुणगान में लिप्त रहने वालों को संसार के विरह अर्थात् लौकिकविषयों से छूट जाने का दुःख ; एवं क्लेश अर्थात् रोग-आदि से होने वाली पीड़ा ; ये दोनों नहीं होते - यह अर्थ है। खारे पानी वाले कुएँ का जल पीने वाले को यदि मीठा जल प्राप्त हो जाये, तो उसे खारे पानी की याद भला आयेगी क्या ? मीठा पानी पीने वाले को खारे पानी की याद आती हो, ऐसा विरह तो भाई हमने कहीं देखा-सुना नहीं है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी यह समझना चाहिए कि, क्षणभंगुर, अंत में दुःखदायी एवं नश्वर रूप-रस-गंध आदि सांसारिक विषयों को भोगने वाले को यदि भगवान् के स्वरूपानन्द के अनुभव की प्राप्ति हो जाय तो फिर उसे संसारविरह क्यों होगा ? यह भाव है। भगवान् जिस स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं, वही स्वरूपानन्द का अनुभव भगवद्गुणगान करने वाला जीव भी करेगा - यह आचार्यचरण **हरिवत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ॥ १३ ॥

ननु गुणमात्रनिष्ठया कुत एवं करोतीत्याशङ्कायामाहुः।

तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १४॥

यदि गुणमात्रनिष्ठयैवं न कुर्यात्तदा क्रूरता मता। दयालुत्वं न स्यात्। तथा च निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः। इत्थं च सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरितियुक्तिरुक्तेति भावः। एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽव्यक्ते मनोयोजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम्।

किंतु संदेह यह होता है कि, जीव यदि भगवद्गुणगान में ही निष्ठ रहे तो क्या आवश्यक है कि भगवान उसे अपने स्वरूपानन्द का दान दें ही ? एवं उसे सांसारिक विरहक्लेशों से मुक्ति मिल जाय ? इसका उत्तर आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा दे रहे हैं।

उत्तर यह है कि, यदि मात्र भगवद्गुणगान में निष्ठ व्यक्ति को भगवान् अपने स्वरूपानन्द का दान न दें, तो फिर उन्हें क्रूर ही माना जायेगा, दयालु नहीं। अतः स्वभावतः दयालु भगवत्-स्वरूप विपरीत कैसे हो सकता है - यह बताने के लिये आचार्यचरण **अन्यथा क्रूरता** यह कह रहे हैं। यदि भगवान् इस प्रकार से दयालुता न दिखायें, तो कौन उन्हें दयालु स्वभाव का कहेगा - यह भाव है। अतः अन्यथा-अनुपपत्तिन्याय के अनुसार यदि भगवान् भक्त पर ऐसी दयालुता न करें, तो उन्हें दयालु-स्वभाव का ही नहीं माना जा सकेगा और इससे शास्त्रों में बताया गया उनका दयालु स्वभाव ही खंडित हो जायेगा। ज्ञानमार्ग के निराकार उपास्य स्वरूप में मन लगाने से जो फल प्राप्त होता है, वह यहाँ पुष्टिमार्ग में भगवद्गुणगान में मन लगाने से प्राप्त हो जाता है - यह ध्यान रखना चाहिये।

निःप्रत्यूहमित्यत्राहुः बाधेति। देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिबंधशङ्का स्यादयं तु भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तत्छङ्केति भावः। ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति। तदध्यासोऽक्षरात्मता। यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारावेशनाशे सति स्वस्वरूपस्फूर्तिरनाशास्यमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरब्रह्मेति ध्येयम्। तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतौ ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां "तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत" इति॥ १४॥

भगवद्गुणगान का मार्ग निष्कंटक है- यह बताने के लिये आपश्री बाधा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जहाँ देश-काल आदि की परिस्थिति भगवत्प्राप्ति के साधनों में रुकावट बनती हो, ऐसे साधनों से प्राप्त हुए फल में ही काल-आदि के द्वारा किये जाने वाले प्रतिबन्धों की शंका उपस्थित होती है। किंतु भगवद्गुणगान में मन लगाने में तो केवल भगवद्-कृपा की ही अपेक्षा है, अन्य दूसरे साधनों की नहीं अतः किसी भी प्रतिबंध की शंका के लिये यहाँ कोई भी स्थान नहीं है। "तदध्यास" शब्द में "तत्" का अर्थ है - अक्षरब्रह्म। और अध्यास का अर्थ है - अक्षरब्रह्मरूपता। अतः **तदध्यासोपि सिध्यति** का अर्थ हुआ - अक्षरब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाती है। यद्यपि पुष्टिमार्गीय जीव को अक्षरब्रह्मरूप होने की कोई कामना नहीं होती, तथापि भगवद्गुणगान द्वारा संसारावेश का नाश होने पर उसने भले ही अपने स्वरूप को जानने की इच्छा न की हो, फिर भी भगवद्गुणगान का स्वभाव ही ऐसा है कि अक्षररूपता की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि जीव का मूल अक्षरब्रह्म ही है। यही बात सिद्धांतमुक्तावली की विवृत्ति में श्रीप्रभुचरणों ने दूसरे श्लोक के अन्तर्गत "वस्तु स्वभावात्भवतः" इत्यादि शब्दों से कही है॥ १४॥

रूपेत्यत्राहुः।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्॥ १५॥

ज्ञानमार्गे "मात्रास्पर्शास्त्वि"तिवाक्येन यत्नपूर्वकमनित्यत्वादिभावनेन बलान्निर्वेदः, अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिसिद्ध्यानवरतमानन्दमात्रकरपादमुखोदरत्वादिभगवद्धर्मस्फूर्त्या सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृतेः कदर्थ्येषु विषयेषु जायमानो विरागो स्थिर एव भवतीत्यर्थः।

अब भगवत्-स्वरूप का वर्णन आगे के श्लोक में कर रहे हैं।

ज्ञानमार्ग में "हे कौन्तेय ! इन्द्रिय और विषयों के सहयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है (भ०गी० २-१४)" इस वाक्य द्वारा प्रयत्न करते हुए सांसारिक विषयों को अनित्य समझते हुए बड़ी कठिनाई से इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना पड़ता है अतः वह नियंत्रण शीघ्र ही फिसल जाता है। परंतु यहाँ तो अर्थात् भगवद्गुणगान

की दशा में तो तन-मन-आत्मा सभी कुछ भगवान् में रत हो जाने के कारण भगवान् के आनंदमय स्वरूप की स्फूर्ति सदा बनी रहती है अतः जीव के मन एवं चक्षु-आदि इन्द्रियों की भगवत्स्वरूप में बड़े सुख से एवं प्रेमपूर्वक प्रवृत्ति होती है, वहाँ खींच-तान कर बलपूर्वक नियंत्रण की परिस्थिति नहीं बनती। अतः क्षुद्र सांसारिक विषयों में उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थिर बना रहता है, यह अर्थ है।

अविदितेत्यत्राहुः गुणैरिति। सर्वदुःखहर्तुर्यत्सुखं तस्य स्पर्शादीषत्सम्बन्धमात्रादित्यर्थः। तथा च सर्वांशेन तदनुभवस्य भगवतो विजातीयवपुःसंपादनेन करिष्यमाणत्वादत्र स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम्॥ १५॥

यह वैराग्य किस प्रकार से स्थिर बना रहेगा, इसे आपश्री **गुणैः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सर्वदुःखहर्ता श्रीहरि के सुख के स्पर्श मात्र से अर्थात् उनसे किञ्चित् भी संबंध हो जाने मात्र से सुख की अनुभूति होती है। और सर्वांश में उस भगवत्-सुख की अनुभूति तब होगी, जब भगवान् संयोगावस्था का दान करेंगे अतः अभी यहाँ आचार्यचरणों ने हरिमूर्ति के स्पर्श के विषय में ही कहा है, यह ध्यान रखें॥ १५॥

उपसंहरन्ति।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥ १६॥

उत्कर्षो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः। अमत्सरैरिति। एतन्मार्गीयभगवद्भक्तेषु[1] द्वेषरहितैस्तेषामनवरतमेतद्भावावेशेन भावात्मकभगवदात्मकात् स द्वेषो भगवत्पर्यवसायी भवतीत्याशयः। अलुब्धैरिति। स्वस्यैवंविधभगवदीयत्वख्यापनेनोदरदरीमपूरयद्भिरित्यर्थः॥ १६॥

अब आगे के श्लोक में आपश्री ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं।

यदि उपर्युक्त श्लोक में "उत्कर्षो हरिवर्णने" पाठ के स्थान पर "उत्कर्षो गुणवर्णने" पाठ माना जाय तो अर्थ यह बनेगा कि – ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भगवद्गुणगान के मार्ग में उत्कर्ष अधिक है। **अमत्सरैः** का अर्थ यह है कि – एतन्मार्गीय(पुष्टिमार्गीय)भगवद्भक्तों से द्वेष न करने वाले अमत्सर हैं, ऐसे अमत्सरों के संग भगवद्गुणगान करना चाहिये। क्योंकि पुष्टिमार्गीय भगवद्भक्त निरंतर भगवदावेश में रहते होने के कारण भावात्मकरूप से भगवदात्मक ही होते हैं अतः उनसे द्वेष करना भगवान् से द्वेष करने के बराबर होता है। **अलुब्धैः** का अर्थ यह है कि, अपने आप को भगवदीय बताकर उदरपोषण करने की वृत्ति को छोड़कर अलुब्ध होकर(अर्थात् लोभवृत्ति न रखकर)भगवद्गुणगान करना चाहिए।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारमाहुः।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं[2] स्वेष्टं तथा कृतिगती सदा॥ १७॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन [3]शेषभावं तनौ नयेत्॥ १८॥

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसंभवात् सङ्कल्पादपि दर्शनादि सर्वं भावयेदित्यर्थः। अत्रा"क्षण्वतां फल"मित्येतद् व्याख्यायां भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च। आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः॥ अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा। तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः॥ तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदे"त्येतत्सर्वमनुसंधेयम्।

प्रासंगिक वस्तु को कह कर पूर्व में कही इन्द्रियों को प्रभु से जोड़ने का प्रकार अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

इन्द्रियों को प्रभु से जोड़ने का मुख्य प्रकार तो संयोगावस्था प्राप्त न हो, तब तक संभव नहीं है अतः मन में भी प्रभु के प्रति संकल्पित होकर प्रभु के दर्शन-आदि समस्त वस्तुओं की भावना मन में करनी चाहिये। यहाँ प्रभु के प्रति ये सभी वस्तुओं भावना करने में "अक्षण्वतां फलं(श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक की व्याख्या में आचार्यचरणों ने "भगवता सह संलापो" से लेकर "तद्भावनं सदा" तक की पंक्तियों में जो कहा है, उन सभी भावनाओं की चाहना करें, इन सभी का अनुसंधान करें।

---

१. भगवद्भक्तशुभद्वेषरहितैरिति पाठः। २. स्पष्टमित्यपि पाठः। ३. शेषभागमित्यपि पाठः।

स्पर्शनं स्पष्टमिति पाठे "अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमं कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुंक्ते न चापर"इत्यनुसन्धेयम्। पुत्र इति। सङ्कल्पाज्जातत्वात् सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे इत्यर्थः। अत एव "भगवानपी"तिश्लोकविवरणे "कामपितामहं मन उत्पादितवा"नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम्।

और यदि "स्पर्शनं स्वेष्टं" पाठ के स्थान पर "स्पर्शनं स्पष्टं" यह पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह बनेगा कि - "इसी लोक में प्रकटित आधिदैविक-उत्तम-उत्कृष्ट कामसुख का भोग केवल कृष्ण ही करते हैं, अन्य नहीं(सु० १०-३०-१ ; का०-५)" इस सुबोधिनी में कहे वाक्यानुसार अलौकिक कामसुख का भोग केवल श्रीकृष्ण ही करते हैं, - इस बात को स्पष्टतया समझकर इन भावनाओं का मन में अनुसंधान रखें। काम मन में संकल्प लेने के कारण उत्पन्न होता है अतः काम संकल्प का पुत्र हुआ। ऐसे पुत्र को अर्थात् ऐसे काम को भगवान् में जोड़ देना चाहिए। इसी कारण "भगवानपि(श्री०भा० १०-२९-१)" इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने "भगवान् ने रमण के लिये समस्त सामग्री योजित करने के पश्चात् गोपिकाओं में काम के पितामह मन को उत्पादित किया(सु० १०-२६-१)" इस वाक्य द्वारा मन को काम का पितामह कहा है, यह ध्यान रखना चाहिए।

नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो ग्राह्योऽन्यो वेत्याशङ्कायामाहुः कृष्ण इति। अलौकिक इत्यर्थः। उक्तं "चात्मारामोऽप्यरीरम"दित्येतद् व्याख्यायां "क्रिया सर्वापि सैव परं कामो न विद्यत" इति श्रीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम्।

परंतु एक शंका यह होती है कि, काम शब्द से यहाँ पामर कोटि तक में कहे गये काम का अर्थ लेना अथवा तो कोई दूसरा अर्थ लेना ? तो आचार्यचरण इसे कृष्ण शब्द से स्पष्ट कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि काम शब्द से अलौकिक अर्थ ही लेना चाहिए, पामर कोटि का नहीं। यही बात आचार्यचरणों ने "आत्मारामो(श्री०भा० १०-२९-४२)" इस श्लोक की व्याख्या में "भगवान् की लीलाएँ भले लोक में प्रसिद्ध काम जैसी दिखाई पड़ती हों, तथापि उन लीलाओं में लौकिक काम नहीं है(सुबो० १०-२६-४२ ; का०-१७)" इस वाक्य द्वारा कही है, यह ध्यान रखें।

रतिरिति। अलौकिकं तमुद्भाव्य स्पर्शविशेषो भावनीय इत्यर्थः। नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्त्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्कायामाहुः पायोरिति। मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकस्योपरोधजदुःखनिवर्तकस्य सुखाजनकस्यास्य शेषभावं गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः। तथा चाकिञ्चित्करत्वाद् व्यर्थमेवेति भावः। वायुमिति पाठे अजामरण्यं नयतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः॥ १७॥ १८॥

रतिः इत्यादि शब्दों का का अर्थ है - हृदय में अलौकिक काम को प्रकट करके भगवान् को स्पर्श करने की भावना करनी चाहिए। किंतु यदि समस्त इन्द्रियों को ही कृष्ण से जोड़ने की बात है, तो फिर इन्द्रियों में पायु-इन्द्रिय भी तो है, उसके लिए क्या करें ? यह प्रश्न होता है। तो इसका समाधान आचार्यचरण पायोः इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यह समझिए कि पायु का कार्य तो देह के मलांश का त्याग करना है, मलत्याग के वेग को रोकने से उत्पन्न हुए कष्ट का निवारण मात्र करना है। वह किसी सुख को उत्पन्न नहीं करती अतः वह शेषभाव को प्राप्त होती है अर्थात् तात्पर्य यह कि अन्य इन्द्रियों की तुलना में पायु-इन्द्रिय को गौण समझें, यह अर्थ है। इसका मुख्यरूप से अर्थात् साक्षात् रूप से भगवत्सेवा में कोई विनियोग नहीं है अतः भगवत्सेवा में प्रत्यक्षरूप से वह कुछ नहीं करती इसलिए साक्षात् प्रभुसेवा में तो वह व्यर्थ ही है, यह भाव है। और यदि पायु के स्थान पर वायु पाठ मान लिया जाय तो, फिर इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट ही है। जैसे "अजां अरण्यं नयति(बकरी को जंगल ले जाता है)" इस वाक्य में कहा गया है, उसी ढंग से वायु पाठ मानने पर अर्थ बनेगा - मलत्याग कराने वाली अपान-वायु को गौणभाव प्राप्त कराना चाहिए अर्थात् उसे गौण समझना चाहिए॥ १७,१८॥

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्कायामाहुः।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत्। तथा च यथास्थ्यादीनि मलानि च तथानुपयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः। वेति विकल्पादेकस्यातूपयोग इति ध्येयम्॥ १९॥

फिर प्रश्न यह होता है कि, स्त्री-पुरुष के अंगविशेषों के लिये क्या व्यवस्था है ? तो इसे आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

इस श्लोक में विनिग्रहः का अर्थ है - तिरस्कार या अवगणना। तात्पर्य यह कि, जैसे शरीर की अस्थियों एवं मल-आदि

का भगवत्सेवा में कोई साक्षात् उपयोग नहीं है, इसी प्रकार पुरुष के अंगविशेषों का साक्षात् उपयोग न होने के कारण उसका निग्रह करना चाहिए, यह भाव है। मूलश्लोक में **वा** शब्द भी है, जो "विकल्प" यानि "अथवा" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि, विकल्प से स्त्री पुरुष में से स्त्री के अंगविशेष का तो प्रभु में उपयोग है, यह ध्यान रखें ॥ १९ ॥

एवं निरोधमुक्त्वा स्वानुपदिशन्ति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रो मननीयो नितरां गोपनीयश्च। **स्तवो** भगवत्प्रसादहेतुः। **विद्या** काम्यमानयावदर्थसाधनम्। **तीर्थं** प्रतिबंधकीभूतदुरितनिचयनिरसनपूर्वकम् तत्प्राप्तिसम्पादकभागधेयोद्बोधकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

इस प्रकार से निरोध का स्वरूप कह कर आचार्यचरण अब अगले श्लोक में अपने निजजनों को उपदेश कर रहे हैं। **मन्त्र** मननीय होता है एवं नितांत गोपनीय भी होता है। **स्तव** अथवा स्तवन अथवा स्तुति के द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया जाता है। विद्या उसे कहते हैं कि, जिसके द्वारा मनचाही कामना प्राप्त कर ली जाय। और भगवत्प्राप्ति में प्रतिबंध बनने वाले पापसमूहों का नाश करके भगवत्प्राप्ति का सौभाग्य देने वाले स्थल को तीर्थ कहा जाता है, यह अर्थ है ॥ २० ॥

यह श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरणों के आत्मज श्रीघनश्यामजी के पुत्र श्रीगोपेशगोस्वामी द्वारा विरचित निरोधलक्षणग्रंथ की विवृत्ति समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम्।

******

देयासु प्रार्थितं मह्यमनुरूपफलद्वयम्
व्यासेन च समासेन फलत्रययुता स्वयम्॥ १॥

विप्रयोग(व्यासेन)के एवं(च)संयोग(समासेन)के द्वारा तीनफलों से युक्त श्रीमहाप्रभुजी/स्वामिनीजी(फलत्रययुता)मेरे द्वारा प्रार्थित, मेरे अनुरूप दो फल(अर्थात् विप्रयोग+संयोग)मुझे स्वयं दें॥ १॥ यहाँ "फलत्रययुता" का अर्थ है - श्रीमहाप्रभुजी अथवा तो गोपिकाएँ। ये दोनों ही तीन फलों से युक्त हैं अर्थात् इस ग्रंथ के पहले श्लोक, दूसरे श्लोक एवं तीसरे श्लोक में कहे गये तीन फलों से युक्त हैं। टीकाकार इन तीन फलों से युक्त श्रीमहाप्रभुजी अथवा तो श्रीस्वामिनीजी से केवल प्रथम और द्वितीय श्लोक में कहे विप्रयोग एवं संयोगरूपी दो ही फल प्राप्त होने की प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि वे स्वयं अपनी ही टीका में तीसरे श्लोक की व्याख्या में लिख रहे हैं कि, इस तीसरे श्लोक में कहे गये आत्यंतिक विप्रयोगावस्था में होने वाले एक आत्यंतिकसुखानुभूति प्राप्त करने योग्य तो केवल श्रीमहाप्रभुजी अथवा तो गोपिकाएँ ही हैं, अन्यों का इस भाव में अधिकार नहीं है।

निरोधलक्षणमिति ग्रंथनाम। निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत अनेन तादृशमिति करणव्युत्पत्तिरत्र। तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधज्ञापकमित्यर्थः। तत्र लक्षणं द्विविधम्,स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति। तत्र स्वरूपलक्षणं यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति। कार्यलक्षणं यथा "जन्माद्यस्य यत" इति।

इस ग्रंथ के द्वारा आचार्यचरण निरोध का लक्षण लक्षित कर रहे हैं अतः इस ग्रंथ का नाम निरोधलक्षण है। यह ग्रंथ निरोध का लक्षण बताता है अतः यह निरोधज्ञापकग्रंथ है। जहाँ तृतीया-समास के द्वारा किसी भी अर्थ को समझाया जाय या बताया जाय तो उसे करण-व्युत्पत्ति कहते हैं। टीकाकार कहते हैं कि इस ग्रंथ में करण-व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह कि - जिस ग्रंथ के द्वारा निरोध के लक्षण पहचाने जाएँ, उस ग्रंथ का नाम निरोधलक्षणम् होना उचित है, यह अर्थ है। लक्षण दो प्रकार का होता है- स्वरूपलक्षण एवं कार्यलक्षण। किसी भी विषय को समझने के लिए उसे उसके स्वरूप द्वारा समझा जाय, तो उसे स्वरूपलक्षण कहते हैं। और यदि उसे उसके कार्यों द्वारा उसकी पहचान करायी जाय तो उसे कार्यलक्षण कहते हैं। उदाहरण के रूप में यदि स्वरूपलक्षण के बारे में समझना हो, तो जैसे ब्रह्म के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि- वह ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनंत है(तै०उ०-२)। और यदि ब्रह्म को उसके कार्यलक्षण के द्वारा समझाना हो तो जैसे श्रीमद्भागवत में "इस जगत् का जन्म, स्थिति एवं लय करनेवाला ब्रह्म है(श्री०भा० १-१-१)" इस वाक्य द्वारा समझा जा सकता है, जिसमें ब्रह्म का कार्य क्या है- यह बताया गया है।

तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कंधे बहुधा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्यत्रोच्यन्ते यच्चेत्यादिना।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपनन्दादयः। चकारेण अन्तरङ्गगोपाः। तथा च यशोदाया नन्दस्य उपनन्दादी-

नामन्तरङ्गगोपानां च यद्दुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवावनगमने भगवच्चिन्तनमन्तरङ्गगोपानां च रात्रौ गुणगानं तद्दुःखम्। चकारात् पूर्वोक्तानां चतुर्णां सुखं लीलानुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिकार्यमित्यर्थः। गोपकृतगुणगानस्यासक्तिकार्यत्वमष्टादशाध्यायकारिकासु स्फुटम्।

उसी प्रकार निरोध का स्वरूपलक्षण तो दशमस्कंध में कई स्थानों पर वर्णित किया गया है अतः यहाँ आचार्यचरण उसके कार्यलक्षण के बारे में इस ग्रंथ में **यच्च** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

नन्दादीनां च इस पद में "आदि" पद से नन्द एवं अन्य उपनन्द आदि सभी समझ लेने चाहिए। "च" शब्द से भगवान् के अंतरंग गोप भी समझ लेने चाहिए। इस प्रकार कुल मिलाकर अर्थ यह बनेगा कि- यशोदाजी को, नन्दजी को, उपनन्दों को भगवान् के दिन के समय वन में चले जाने पर भगवत्-चिंतन करते समय जो दुःख हुआ, वह दुःख आचार्यचरण कह रहे हैं कि, मुझे कब होगा ? और अंतरंग गोपबालकों को रात्रिसमय में भगवान् का गुणगान करते समय जो दुःख हुआ, वह दुःख मुझे कब होगा ? एवं यह कह रहे हैं कि यशोदाजी, नन्दजी, उपनन्द एवं गोपबालक इन चारों को भगवद्-लीला का अनुभव होने पर जो सुख होता है, वह भगवद्-आसक्ति के कारण होता है और यही निरोध का लक्षण है। गोपबालकों ने प्रभु-आसक्ति के कारण जो गुणगान किया है, वह आचार्यचरणों ने श्रीमद्भागवत के वेणुगीत की कारिकाओं में व्यक्त किया है।

अन्येषु लक्षणेष्वन्यस्यानधिकारात् स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति **गोपिकानां** त्विति। "निन्युर्दुःखेन वासरा"नित्यत्रोक्तं दुःखं च निरोधकार्यम्। इदं तु क्वचिन्मम स्यात्,अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः। अन्यव्यावृत्तये तु शब्दः। चकारपक्षे इदमपि दुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः॥ १॥

इसके अतिरिक्त निरोध के जो लक्षण हैं, उनमें सभी का अधिकार न होने के कारण आचार्यचरण उसे केवल अपने तक ही सीमित रखते हुए **गोपिकानां तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, श्रीमद्भागवत में "भगवान् दिन में गौएँ चराने के लिए वन में पधार जाते थे, तब गोपियों का दिन उनके विरह में बड़ी कठिनाई से कटता था(१०-३५-१)" इस वाक्य में कहा गया दुःख, जो कि निरोध के कारण गोपिकाओं को हुआ था, वह मुझे कब होगा ? आपश्री आज्ञा कर रहे हैं, कि ऐसा दुःख मुझे न जाने कब होगा अर्थात् यह जान पड़ता है, कि आपश्री के अलावा अन्यों को तो ऐसा दुःख होना सर्वथा दुर्लभ ही है - यह अर्थ है। आपश्री के अतिरिक्त अन्य दूसरों को इस कोटि से अलग रखने के लिए "तु" शब्द का प्रयोग है। यदि "तु" के स्थान पर "च" पाठ माना जाय तो अर्थ यह बनेगा कि, नन्द-यशोदा के दुःख की भाँति गोपिकाओं को होने वाला दुःख भी निरोध के कारण ही हुआ अतः अर्थ यह हुआ कि समुच्चयरूप से इन तीनों को होने वाले दुःख का कारण निरोध ही है॥ १॥

सुखरूपं निरोधलक्षणमाहुः गोकुले इति।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ २॥

गोपिकानां चकारेण अन्तर्गृहगतानां यत्सुखं पूर्वदलानुभवरूपम्। सर्वव्रजवासिपदेन अन्तरङ्गदास्य उच्यन्ते। पुल्लिङ्गपदं परोक्षवादाय। तेषां च यत्सुखमत्यन्तरङ्गलीलादर्शनरूपं समभूत् तदपि निरोधलक्षणम्। अन्यस्यायोग्यमतो भगवान् मे किं विधास्यतीत्याशंसेत्यर्थः। अत एव [1]अष्टकान्ते विट्ठलपदाभिधेये मय्येवेत्येवकार उक्तः॥ २॥

अब आगे के श्लोक में, आचार्यचरण **गोकुल** इत्यादि शब्दों से निरोध का वह लक्षण बता रहे हैं, जिसमें सुख प्राप्त होता है।

गोपीजनों को एवं **च** शब्द से अन्तर्गृहगता गोपीजनों को प्रभु से जो सुख प्राप्त हुआ, वह सुख संयोगरस का अनुभव करानेवाला है। **सर्वव्रजवासि** पद से आचार्यचरणों का संकेत भगवान् की अन्तरंग दासियों से है। इसमें पुलिंगपद का प्रयोग तो आपश्री ने गोपनीयता बनाए रखने के कारण किया है। उन व्रजवासियों को भगवान् की अन्तरंग लीला के दर्शन का जो सुख प्राप्त हुआ, वह भी निरोध के कारण ही हुआ। इन व्रजवासियों के अतिरिक्त अन्य जीव तो ऐसे दर्शन प्राप्त करने के योग्य ही नहीं हैं अतः आचार्यचरणों ने ऐसे सुख के लिए "क्या भगवान् मुझे ऐसा सुख देंगे ?" इस प्रकार से केवल उनके अपने लिए ही

१. श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणप्रकटितस्वामिन्यष्टकोपन्यासोत्र।

कामना व्यक्त की है। इसी कारण श्रीप्रभुचरणों ने भी स्वामिनी-अष्टक में "इस अष्टक में कहा गया भाव केवल मुझे ही प्राप्त हो(८)" यह कहा है॥ २॥

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः **उद्धवागमनेति**।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ ३॥

उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः। एतस्यमुख्यफलत्वसिद्धान्तात् **सुमहानि**त्युक्तम्। अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसंगे अध्यायद्वयेनोक्त इति **वृन्दावने गोकुले** वेत्युक्तम्। अत्र अन्यस्यानधिकार इति **मे मनसि** स्यादिति उक्तम्। दुर्लभत्वख्यापनाय **क्वचि**दिति।

अब आचार्यचरण इस अग्रिम श्लोक में आन्तरिक विरह का अनुभव करानेवाला निरोध का मुख्य लक्षण **उद्धवागमने** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

निरोधदशा में आत्यंतिक विरह का अनुभव करना ही उत्सव है। सिद्धान्ततः यही विरह पुष्टिमार्ग में मुख्यफल है, इस कारण आचार्यचरणों ने ऐसे उत्सव को **सुमहान्** कहा है। गोपिकाओं एवं नन्दादि को होनेवाला ऐसा उत्सव भ्रमरगीत के प्रसंग में दो अध्यायों द्वारा कहा गया है अतः आचार्यचरण वृंदावन अथवा गोकुल में होनेवाले उत्सव की बात कह रहे हैं। इसमें अन्यों का अधिकार नहीं है। अतः आपश्री "मेरे मन में ऐसा उत्सव कब होगा ?" यों कह रहे हैं। ऐसा उत्सव मन में उत्पन्न होना बड़ा दुर्लभ है अतः इसकी दुर्लभता बताने के लिए आपश्री "ऐसा उत्सव कब होगा (क्वचिद्) ?" यों आज्ञा कर रहे हैं।

एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्वं "यच्च" इत्यर्धेनोक्ते दुःखसुखे अन्येनापि भक्तेन मयि स्यादिति आशास्य इति सूचितम्। तथा च यशोदाया नन्दस्योपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखसुखानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशास्यानि। गोपिकानां सुःखदुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तरगृहगतानामन्तरङ्गदासीनां सुखम् ,सर्वेषामात्यन्तिकविरहानुभवश्च। इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वेनाशास्यानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम्। भगवान् कृपया सम्पादयेच्चेदस्तु, स्वयं नाशास्यानीत्यर्थः ॥ ३॥

इन दो श्लोकों में जो "यत्" शब्द से सुख एवं दुःख के मनोरथों की बात कही गयी है, वह मनोरथ अन्य दूसरे भक्त भी "ऐसा मनोरथ मुझे भी हो" इस प्रकार से कर सकते हैं - यह सूचित होता है। तात्पर्य यह है कि यशोदाजी, नन्दजी, उपनन्दादि एवं अन्तरंग गोपबालकों को होनेवाले दुःखसुखरूपी निरोधलक्षणों के लिए तो अन्य दूसरे भक्त भी आशा कर सकते हैं, मनोरथ कर सकते हैं, परंतु जहाँ तक गोपिकाओं के सुखदुःख, अन्तरंग गोपियों अर्थात् अन्तर्गृहगता गोपियों अर्थात् अन्तर्गृहगता दासियों के सुख एवं उन सभी को होनेवाले आन्तरिक विरह के अनुभव की बात है, तो इन सभी के उदाहरणों द्वारा निरोधलक्षण को स्वरूपतः समझ तो लेना चाहिए, किंतु स्वयं हमें ऐसे निरोध की कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि वहाँ हमारा अधिकार नहीं है। यदि स्वयं भगवान् ही कृपा करके हमें ऐसी निरोधदशा सिद्ध करा दें तब तो ठीक है, परंतु हमें स्वयं ऐसी कामना प्रभु से नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है॥ ३॥

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिरकालसाध्यत्वात् तत्सिद्धिपर्यन्तं क्लेशाभावायावान्तरं निरोधफलमाहुः **महतामिति**।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि॥ ४॥

महतामत्रत्यगुरूणां स्वामिनीनां **कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति** पूर्वश्लोकार्धोक्तं फलं सम्पादयिष्यति **तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो** भगवान् **सुखाय** भवति। गुणगानजं सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः॥ ४॥

भक्तगण अपने लिए जिस दुःख-सुख के मनोरथों की कामना करते हैं, भले ही वह गोपिकाओं वाला मनोरथ न होकर यशोदाजी इत्यादि का ही मनोरथ हो, तथापि ऐसा मनोरथ सिद्ध होना भी दुर्लभ ही है और चिरकाल के पश्चात् ही सिद्ध होता है अतः जब तक मनोरथ सिद्ध न हो जाये, तब तक विरहक्लेश को दूर करने के लिए आचार्यचरण निरोध का अवान्तर फल **महतां**

इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

महतां शब्द का अर्थ है - स्वामिनी अर्थात् गोपिकाएँ। तात्पर्य यह है कि, पुष्टिमार्ग में गुरु कही जानेवाली इन गोपिकाओं की कृपा से भगवान् जिस समय दयालु होकर उपर्युक्त श्लोकों में कही निरोधदशा हमें सिद्ध करायेंगे, तब तक अर्थात् वह समय आने तक भगवत्-संकीर्तन द्वारा प्रसन्न होने वाले आनंदघनस्वरूप भगवान् हमारे लिए सुखदायी होते हैं। भगवद्गुणगान द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख निरोध का अवान्तरफल है, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव ज्ञेयमित्याहुः महतामिति।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां कृपया जातं कीर्तनम् , तथा स्वामिनीकृपया सञ्जातकीर्तनप्रकारकसुखदं नेत्यर्थः। तत्र हेतुं दृष्टांतेन स्पष्टयन्ति स्निग्धेति। स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्वदित्यर्थः। स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्प्राकट्यात् कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम्। अन्यत्र तु मानस्या मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्याभावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम्।

पुष्टिमार्ग में मुख्यफल तो गोपिकाओं की कृपा द्वारा ही सिद्ध हो सकता है, यह आपश्री ने ऊपर के श्लोकों में कह दिया, परंतु अवान्तरफल भी गोपिकाओं की ही कृपा से सिद्ध हो सकता है, यह बताने के लिए आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में **महतां** शब्द से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, लोक में प्रसिद्ध नारद-शुक आदि की कृपा द्वारा प्राप्त होने वाला कीर्तन गोपिकाओं की कृपा द्वारा प्राप्त होनेवाले कीर्तन की तुलना में इतना सुखकारी नहीं है। इसका कारण आपश्री **स्निग्ध** इत्यादि शब्दों के उदाहरण द्वारा समझा रहे हैं। तात्पर्य यह कि जो अंतर रसयुक्त भोजन एवं रूखे-सूखे भोजन में होता है, वही अंतर इन गोपिकाओं की कृपा द्वारा प्राप्त होनेवाले कीर्तन एवं लौकिक कीर्तन में है। गोपिकाओं की कृपा द्वारा अंतःकरण में स्वयं भगवान् प्रकट होते हैं अतः उनकी कृपा से प्राप्त होनेवाले कीर्तन को आपश्री ने रसयुक्त भोजन के समान बताया है। अन्य दूसरे लौकिक कीर्तन में तो मन में किसी भगवन्मूर्ति की कल्पना करके कीर्तन किया जाता है, अतः वहाँ वस्तुतः तो भगवान् प्रकट हैं ही नहीं, इस कारण से आचार्यचरणों ने लौकिककीर्तन की तुलना रूखे भोजन से की है।

महतामित्यस्य कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः। तत्कृतं कीर्तनं न त्वन्येनोपनिबद्धमित्यर्थः। मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त "महतां" शब्द का संबंध पूर्वश्लोक में प्रयुक्त हुए "कीर्त्यमान" शब्द के संग करना चाहिए। ऐसे में अर्थ यह बनेगा कि, महापुरुषों के द्वारा जो कीर्त्यमान-प्रभु हैं, अर्थात् महापुरुषों के द्वारा जिस प्रभु का कीर्तन किया जा रहा है, वह कीर्तन सदा सुखदायी रहता है। इन महापुरुषों के द्वारा किया जानेवाला कीर्तन स्निग्धभोजन की तरह है, अन्य के द्वारा रचित किए गये कीर्तन नहीं- यह अर्थ है। कुल मिलाकर जब तक मुख्य फलप्राप्ति न हो जाये, तब तक भगवद्गुणगान करते रहना चाहिए - यह आपश्री कह रहे हैं ॥ ५ ॥

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिसुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका सुखावाप्तिस्तत्प्रकारिका सुखावाप्तिः शुकादीनां सिद्धज्ञानानां तत्रापि आत्मनि आत्मविचारदशायामपि न जायते, तर्हि अन्यतः कर्मभ्यः कुतः स्यादित्यर्थः। अत एव "परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य" इत्यादि वाक्यानि ॥ ६ ॥

इस परिस्थिति में एक शंका यह होती है कि, यदि कर्ममार्ग का भी अनुसरण करें, तो क्रममुक्ति के प्रकार से स्वर्गादि के सुख की प्राप्ति तो होती ही है, तब फिर यहाँ भगवद्गुणगान का ही आग्रह क्यों किया जा रहा है ? इस शंका का निराकरण आचार्यचरण **गुणगाने** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री यहाँ आज्ञा कर रहे हैं कि, गोविंद के गुणगान में जिस प्रकार का सुख मिलता है, वैसा सुख तो शुकदेवजी जैसे सिद्ध ज्ञानियों को आत्मविचारदशा में भी प्राप्त नहीं होता, फिर अन्य कर्ममार्ग के प्रकारों द्वारा कहाँ मिल सकता है ? इसी कारण श्रीमद्भागवत में शुकदेवजी ने "हे राजर्षे ! भगवान् के निर्गुण-स्वरूप में मेरी पूर्ण निष्ठा है, तथापि श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं ने मुझे आकर्षित कर लिया(श्री भा० २-१-९)" इत्यादि वाक्य कहे हैं ॥ ६ ॥

तत्कीर्तने विशेषमाहुः क्लिश्यमानानितिद्वयेन ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्रूपं आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा बहिर्निर्गतं भवति, स कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः । कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः ।

और गोपिकाओं द्वारा किये गये कीर्तन में विशेष क्या है, यह आचार्यचरण **क्लिश्यमानान्** इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बता रहे हैं ।

श्लोक का अर्थ यह है कि, सद्रूप(अविनाशी)-आनंदस्वरूप वाले सदानंद श्रीकृष्ण जब अपने जीवों को क्लेशयुक्त देखकर कृपायुक्त होते हैं, तब वे बाहर प्रकट होते हैं और आपका ऐसा कृपानंद प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है । ऐसा आनंद कर्ममार्ग अथवा तो ज्ञानमार्ग द्वारा प्राप्त नहीं होता अपितु भगवद्-विरहक्लेश द्वारा ही प्राप्त हो सकता है अतः आचार्यचरण "कृपानन्द बड़ा दुर्लभ है" यों आज्ञा कर रहे हैं ।

सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनं विवृण्वन्ति हृद्गत इति । तत्तद् हृदिस्थो भगवान् स्वगुणान् अन्योऽन्यं वर्णितान् श्रुत्वा पूर्णो भवति । इदं द्वात्रिंशाध्यायकारिकायां स्फुटम् । स्वयं पूर्णः सन् जनान् प्लावयते, स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७,८ ॥

सदानंद श्रीकृष्ण के बाहर प्रकट होने की प्रक्रिया को आचार्यचरण **हृद्गतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऐसे विरहातुर जीवों के हृदय में विराजमान भगवान् उन जीवों में परस्पर होने वाले सत्संग में अपने गुणों को सुनकर पूर्ण हो जाते हैं । यह बात श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के बत्तीसवें अध्याय(युगलगीत)की कारिका में बताई गयी है। भगवान् स्वयं पूर्ण होकर अपने विरहातुर जीवों को प्लावित करते हैं अर्थात् उन्हें अपने स्वरूपानंद में निमग्न कर देते हैं, उनमें भीतर-बाहर दोनों ओर से अपने स्वरूपानंद को प्रकट करते हैं । यही सदानंद श्रीकृष्ण का बाहर प्रकट होना है ॥ ७,८ ॥

स्पष्टीकर्तुमुपसंहरति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रयासं परित्यज्य निरुद्धैर्भक्तैः सह सदानन्दपरैः कर्तृभिः गुणा गेयाः । एतस्य फलस्य अवान्तरत्वं साधयन्ति सच्चिदानन्दतेति । ततो गुणगानात् सच्चिदानन्दता भवति, अलौकिकशरीरप्राप्त्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः । स्वत इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अब आचार्यचरण ऊपर कही बात को स्पष्ट करने के लिए **तस्माद्** इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं ।

श्लोक का तात्पर्य यह है कि, कर्ममार्ग-ज्ञानमार्ग आदि समस्त प्रयासों का परित्याग करके सदानंद श्रीकृष्ण के परायण जीवों को निरुद्धभक्तों के संग भगवान् का गुणगान करना चाहिए । इस गुणगान के फल का गौणफल आचार्यचरण **सच्चिदानंदता** शब्द से बता रहे हैं । आपश्री कह रहे हैं कि, भगवद्गुणगान करने से सच्चिदानंदता प्राप्त होती है अर्थात् जीव को अलौकिक शरीर की प्राप्ति होती है एवं उसे भजनानंद के लिये स्वरूपयोग्यता प्राप्त होती है । यदि यहाँ "ततः" पाठ के स्थान पर "स्वतः" पाठ मान लिया जाय, तो अर्थ यह बनेगा कि- भगवद्गुणगान का स्वभाव ही ऐसा है कि जीव को सच्चिदानंदता तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती

है॥ ९॥

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथयामीत्याहुः अहमिति।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥ १०॥

रोधेन निरोधपूर्वावस्थापन्नेन भावविशेषेण अहं निरुद्धः निरोधस्य पदवीं मार्गं पूर्वोक्तमुख्यफलपर्यन्तं गतः प्राप्तः। अतो गोपिकानां त्वित्यादिनोक्तफले इव अभिज्ञापककथने मम न प्रयोजनं, किंतु अन्यार्थं कथयामीत्याशयेन कञ्चित्सेवकमभिमुखीकृत्याहुः ते इति। तव निरुद्धानां संबन्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्धयर्थमित्यर्थः। निरोधं वर्णयामि अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः॥ १०॥

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, जिनके संग भगवद्गुणगान करना है, वे निरुद्ध हैं - यह कैसे ज्ञात हो ? तो "निरुद्ध जीवों की पहचान कराने वाला लक्षण अब मैं कह रहा हूँ" यों आचार्यचरण **अहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं - मैं निरोधदशा की दशा से पहले रोधदशा नामक विशेष भावावस्था से होकर अब मुख्यफल पर्यन्त जाने वाली निरोध की पदवी को प्राप्त हो गया हूँ। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, पूर्व में जो मैंने "गोपिकानां तु" इत्यादि पदों से निरोध की बात कही थी, उस कोटि के निरोध को बताने का मेरा यहाँ प्रयोजन नहीं है **क्योंकि उस कोटि के निरोध में तो केवल आचार्यचरण ही अधिकारी हैं** किंतु दूसरे किसी भक्त के लिए आपश्री इस श्लोक के पश्चात् निरोध का वर्णन कर रहे हैं - इस आशय से आपश्री अपने किसी सेवक की ओर अभिमुख होकर **ते (तेरे लिए)** यों कह कर वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार आपश्री उसे समझाते हुए कह रहे हैं कि - निरुद्ध जीवों से संबंधित जो रोध है, उस रोध के अनुसार तुममें भाव की सिद्धि करने के लिए मैं निरोधवर्णन कर रहा हूँ, अर्थात् उसका लक्षण बताते हुए वर्णन कर रहा हूँ, यह अर्थ है॥ १०॥

विविच्य कथनाय व्यावर्त्यानामपि अभिज्ञापकमाहुः।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

सर्वदुःखहर्त्रापि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्त्यानामभिज्ञापकमुक्तम्। निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति। अत्र गुणगानादौ इत्यर्थः। यथा सर्वज्ञत्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनं, तथा गुणगानादौ मोदो निरोधे निदर्शनम्। एवं निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं "यच्च" इत्यर्धेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम्। फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्स्वभावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः॥ ११॥

इस प्रकार निरोध का विवेचन करके उसका लक्षण कहने के लिए आपश्री अगले श्लोक में उन जीवों के लक्षण भी कह रहे हैं जो निरोध की कोटि में नहीं आते, जिन्हें प्रभु ने निरोधकक्षा से दूर कर दिया है।

भगवान् सर्वदुःखहर्ता हैं, तथापि उन्होंने जिनको छोड़ दिया है, वे भवसागर में डूबे हुए हैं- इस वाक्य द्वारा आचार्यचरणों ने उन लोगों की ओर संकेत किया है जो निरोधदशा के योग्य नहीं हैं एवं संसार में रचे-पचे हैं। निरुद्धजीवों को बताने के लिए आचार्यचरण **ये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **अत्र** शब्द का अर्थ है - गुणगान की प्रक्रिया में। अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में सर्वज्ञता, अलौकिकता एवं तेज ये सभी ज्ञानप्राप्ति के सूचक हैं, उसी प्रकार भगवद्गुणगान-आदि में आनंद की अनुभूति होनी निरोधदशा प्राप्त होने की सूचक है। इन लक्षणों से निरुद्धजीवों को पहचान कर उनके संग भगवद्गुणगान करना चाहिए, जब तक प्रथमश्लोक में कहे गये फल की सिद्धि न हो जाय। उस फल की प्राप्ति के पश्चात् तो आगे सभी कुछ उस फल के स्वभाव से ही प्राप्त हो जायेगा अतः इसमें कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है॥ ११॥

ननु परमदयालुर्भगवान् कथं कांश्चिज्जीवान् मुञ्चति येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः गुणेष्विति सार्धेन।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १२॥

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

समाधानं तु निबंधे "आत्मसृष्टेर्न वैषम्य"मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम्। येन संसारक्लेशो भगवद्विरहक्लेशश्च निवर्तते, हरेरिव सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो यदा भवति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेत्। एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः। अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां मोचनं येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः।

किंतु हमें शंका यह होती है कि, भगवान् का स्वभाव तो बड़ा दयालु है फिर वे कुछ जीवों को क्यों छोड़ देते हैं, जिससे वे बेचारे भवसागर में ही डूबे रह जाते हैं ? इस शंका के समाधान के रूप में यह समझना चाहिए कि, भगवान् का ऐसा करना उनके धर्मिस्वभाव के प्रमाण से सिद्ध है और भगवान् का धर्मिस्वभाव यह है कि, वह भगवदीय जीवों को तो ग्रहण करता है परंतु आसुरी जीवों को छोड़ देता है इस बात को आचार्यचरण अगले डेढ़ श्लोक में **गुणेषु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।
ऊपर कही गयी शंका का समाधान तो निबंध में कहे "ब्रह्म में विषमता एवं निर्दयता का दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि भगवान् अपने आत्मा को ही जगत्-रूप करके स्वयं सभी कुछ बन जाते हैं(शा०प्र०-७६)" इस वाक्य द्वारा समझना चाहिए। भगवद्गुणों के आवेश द्वारा जब संसारक्लेश एवं भगवद्विरह का क्लेश भी दूर होता है एवं हरि की भाँति जीव को भी सुख की अनुभूति होती है, तब भगवान् की दयालुता हुई समझनी चाहिए। इतना सब फल प्राप्त करने वाले भक्तिमार्गीय ही होते हैं, अतः भक्तिमार्गीयों के प्रति भगवान् की दयालुता प्रकट होती है, यह अर्थ है। जो भक्तिमार्ग का अनुसरण नहीं करते उनके प्रति भगवान् की क्रूरता यही है कि, वे उन जीवों को छोड़ देते हैं अर्थात् भगवान् का इस प्रकार से उन्हें भवसागर में छोड़ देना ही उनकी क्रूरता है, जिससे वे जीव भवसागर में डूबे रहते हैं, यह अर्थ है।

कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे मज्जनम्। ज्ञानमार्गेपि "ज्ञानिनामपि चेतांसी"ति वाक्यात् तथा। इदं निबंधे द्वितीयप्रकरणान्ते व्यवस्थापितम्। इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मतेत्युक्तम्॥ १२॥

कर्ममार्ग में जीवनमरण का चक्कर बताया गया है ही अतः प्रभु ने जिनको छोड़ दिया है, वे इस प्रकार से संसार में डूबे रहते हैं। ज्ञानमार्ग में भी यही बात "देवी-भगवती महामाया ज्ञानियों के भी चित्त को आकर्षित करके उन्हें मोह में डाल देती है(दुर्गा-सप्तशती)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इस विषय में सभी कुछ निबंध के द्वितीय प्रकरण के अंत में आचार्यचरणों ने व्यवस्थितरूप से कहा है। आपश्री जो यह सभी कुछ कह रहे हैं, वह सभी प्रमाणसिद्ध है अतः आपश्री ने **मता** कहा है॥ १२॥

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि काश्चिद्बाधेतेत्याशङ्क्याहुः।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १३॥

अत्र बाधसंभावनापि नास्तीत्यर्थः। तत्र हेतुः तदध्यासोपीति। माया हि संसारे अध्याससंपादनेन मज्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः। "गृहं सर्वात्मना त्याज्यमिति" त्यागपक्षसमुच्चयाय अपिशब्दः॥ १३॥

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में माया प्रतिबंध पैदा करती है, उस प्रकार इस गुणगान की प्रक्रिया में भी कोई बाधा आ सकती है क्या ? इसका समाधान आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा कर रहे हैं।
आचार्यचरण कह रहे हैं कि, भगवद्गुणगान के मार्ग में तो बाधा की संभावना भी नहीं है। इसका कारण आपश्री **तदध्यासोपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। माया तो अध्यास (भ्रम) पैदा करके संसार में डुबोती है परंतु भगवद्गुणगान की प्रक्रिया में यदि भ्रम भी उत्पन्न होता है, तो वह भगवदात्मक ही होता है अर्थात् भ्रम में भी जीव सर्वत्र भगवान् को ही देखता है - यह अर्थ है। अतः जब जीव को इस प्रकार से भगवान् का अध्यास सिद्ध हो जाता है, तब इस प्रक्रिया में त्यागपक्ष भी मिला हुआ समझना चाहिए, जिसके लिए आचार्यचरणों ने "अपि" शब्द द्वारा कहा है। अध्यास शब्द का अर्थ है- आभास। "तदध्यास" शब्द का अर्थ है - भगवान् का अध्यास अर्थात् भगवान् का आभास होना। अतः जब जीव को इस प्रकार से भगवान् का अध्यास सिद्ध हो चुका है, तो इसका गूढ़ तात्पर्य ही यही है कि उसने समस्त सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर दिया है, तभी तो उसे भगवान् का अध्यास सिद्ध हुआ ! तो टीकाकार कहते हैं कि "तदध्यास" शब्द में जुड़ा "अपि" शब्द इसी त्यागपक्ष को बतला रहा है। अर्थात् "अपि" शब्द से पता चल जाता है कि, उस जीव ने संसार का त्याग कर दिया है। यह त्याग वही है जो पंचश्लोकी में "सभी प्रकार से

गृहत्याग कर देना चाहिए(१)" इस वाक्य द्वारा कहा गया है ॥ १३ ॥

गुणावेशेन उभयक्लेशाभावे हेतुमाहुः ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

गीयमाना ये भगवद्धर्मास्तत्सामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन संसारक्लेशाभावः । गुणैः हरिसुखस्पर्शाद्विरहक्लेशाभाव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

भगवद्गुणगान के आवेश द्वारा सांसारिक एवं विरह का क्लेश न होने का कारण आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि, जिन भगवद्-धर्मों का गुणगान किया जा रहा है, उन भगवद्-धर्मों की सामर्थ्य के बल से सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और इससे संसार का क्लेश अनुभूत नहीं होता। भगवद्गुणों का गुणगान करने पर हरि का सुखकारी स्पर्श प्राप्त होता है अतः विरह का क्लेश भी क्यों कर हो ? यह अर्थ है ॥ १४ ॥

मार्गान्तरेभ्य उत्कर्षं स्फुटं कर्तुमुपसंहरन्ति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

ननु "पराञ्चि खा"नीतिवाक्यादिन्द्रियाणामन्यपरत्वस्य साहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येशस्य वस्तूनि एतैः सह योजयेत् । प्रपंचे ब्रह्मभावनां कुर्यादितिसिद्धांतमुक्तावल्युक्तोर्थोनुसन्धातव्यः ।

अन्य दूसरे मार्गों से इस मार्ग की उत्कृष्टता बताने के लिए आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में एवं इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं।

किंतु शंका यह होती है कि, "परमेश्वर ने जीव की समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर ही बनाए हैं अतः वह बाहर की सांसारिक वस्तुओं को ही देखता है, अंतरात्मा में विराजे हुए परमात्मा को नहीं(कठो० २-१-१)" इस वाक्य द्वारा इन्द्रियों का संसार की ओर झुकना तो सहज ही है अतः सर्वदा विषयभोगों मे लिप्त रहने वाली इन्द्रियों द्वारा जीव का भगवद्गुणगान करना कैसे संभव हो सकेगा ? इस समस्या का उपाय आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

संसार के आवेश से दुष्ट हो चुकी इन्द्रियों के हितार्थ यानि कि उन्हें भगवत्-परक बनाने के लिए उन्हें ईश्वर श्रीकृष्ण की वस्तुओं में जोड़ देनी चाहिए। इस समस्त प्रपंच में ब्रह्म की भावना करनी चाहिए – यह सि०मुक्तावली में कहा गया अर्थ ध्यान में रखना चाहिए।

भूम्नेति चतुर्थी। भूमा सर्वात्मभावस्तदर्थमित्यर्थः। भगवदीयैरेव वस्तुभिः सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मनो भावो भगवति सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

यहाँ "भूम्ने" शब्द चतुर्थीविभक्ति का है। "भूमा" शब्द का अर्थ है – सर्वात्मभाव। अतः "भूम्ने" शब्द का अर्थ हुआ – सर्वात्मभाव प्राप्त करने के लिए। तात्पर्य यह हुआ कि, "भूम्ने" अर्थात् सर्वात्मभाव की सिद्धि के लिए जब भगवदीय वस्तुओं से ही समस्त दैनिक व्यवहार किया जाता है, तब उन समस्त वस्तुओं में रहा अपना भाव अब भगवान् में सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है। ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तूनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं भूमानं विवृण्वन्ति हरिमूर्तिरिति।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्॥ १८॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः। इन्द्रियाणामाहुः **सङ्कल्पादपीति**। दर्शस्पर्शनकृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुत्वक्पाणिपादश्रोत्रवाक्कार्याणि सङ्कल्पादपि तत्र भगवत्येव सम्पादनीयानि। भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि न तु विषयविषयकाणीत्यर्थः। मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि। तदसंभवे सङ्कल्पमात्रमपि कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्व सूचनाय अपिशब्दः।

भगवदीय वस्तुओं को इन्द्रियों के संग जोड़ने के द्वारा सिद्ध हुए सर्वात्मभाव को अब आपश्री **हरिमूर्तिः** इत्यादि शब्दों से विवृत कर रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोकों में से पहले श्लोक के पहले चरण में भगवान् के प्रति मन का भाव किस प्रकार से होना चाहिए, यह कहा गया है। इन्द्रियों को प्रभु से कैसे जोड़नी यह आपश्री **सङ्कल्पादपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अर्थात् प्रभु के दर्शन, प्रभु का स्पर्श, प्रभु की सेवा, उनकी टहल, प्रभुनाम का श्रवण एवं प्रभुकीर्तन इत्यादि जो क्रमशः चक्षु, त्वचा, हाथ, पैर, कान एवं वाणी के कार्य हैं- इन इन्द्रियों को संकल्प लेकर भी भगवान् में ही जोड़ देनी चाहिए। तात्पर्य यह कि, भगवद्विषयक वस्तुओं के ही दर्शन का संकल्प लेना चाहिए, सांसारिक विषयों को देखने का नहीं। मुख्यकल्प तो यह है कि, इन्द्रियों का विषय भगवान् ही बनें। और यदि भगवद्विषयक कार्य न कर पाओ तो कम से कम मन में संकल्प तो करें - यह अर्थ है। परंतु यहाँ इतना समझिए कि मात्र संकल्प ही लेकर बैठे रहना एवं उस कार्य को अमल में न लाना तो उचित नहीं है अतः संकल्प की गौणता को बताने के लिए आचार्यचरणों ने यहाँ "अपि" शब्द का प्रयोग किया है।

भगवद्धर्मसामर्थ्यसिद्धवैराग्यस्वरूपं तेन साध्यं फलं च वदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः पुत्रेति। कृष्णप्रिये पुत्रे रतिः कर्त्री, पायोर्मलत्याजकेन्द्रियाद् हेतोः मलांशस्य प्राकृतभावस्य त्यागेन शेषभागं अलौकिकत्वं तनौ नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः। मलत्यागस्य पायुकार्यत्वात् पायुग्रहणम्। अत एवा"सिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानत" इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम्। अपानं इन्द्रियमिति उक्तेरपानं पायुश्चेत्येकमेव।

भगवद्-धर्म के सामर्थ्य से सिद्ध हुए वैराग्य के स्वरूप को एवं उस वैराग्य से प्राप्त किये गये फल को कहते हुए अब आचार्यचरण **पुत्र** इत्यादि शब्द से गुदा का विनियोग कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि कृष्ण को प्रिय पुत्र में होने वाली रति(कर्त्री, अलौकिकता का संपादन करने वाली)पायु-इन्द्रिय द्वारा मलांश का त्याग करवा कर शरीर में अलौकिकता का संपादन करती है ; कारण कि पायु-इन्द्रिय मलत्याग का कार्य करती है अतः शरीर से मलांश अर्थात् प्राकृतभाव के त्याग द्वारा यह रति शरीर में अलौकिकता(शेषभागं)का संपादन करती है, यह अर्थ हुआ। मलत्याग पायु का कार्य है अतः पायु को ग्रहण किया गया है। इसी कारण श्रीमद्भागवत में "विराट् पुरुष को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना अपानमार्ग से हुआ(श्री०भा० २-१०-२८)" इस वाक्य द्वारा देहत्याग का कारण अपान नामक प्राण का कार्य बताया गया है। इस श्लोक में "अपान" को इन्द्रिय कहा गया है अतः अपान एवं पायु ये दोनों एक ही हैं।

कृष्णप्रिय इति। भगवदीयेषु रागो अन्यत्र विराग इति लक्षणं वैराग्यस्वरूपमुक्तम्। कृष्णः प्रियो यस्य तादृशे भगवदीये। तथा च भगवदीयत्वेन राग इत्यर्थः। पुत्रपदमुपलक्षणम्। भार्यादिष्वप्येवम्। "नापुत्रस्य लोकोस्ती"त्यादिवाक्यैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वशङ्कया पुत्रपदम्। अन्यत्र आत्मन एव निरुपधिस्नेहविषयत्वात् पुत्रस्य च "आत्मा वै पुत्र नामासी"त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात् तत्र राग उक्तः। अत्र तु भगवत एव निरुपधिस्नेहविषयत्वाद्भगवदीये एव रागोन्यत्र विराग इति भावः।

निरोधलक्षणम्।

कृष्णप्रिय इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि, भगवदीयों में राग एवं अन्यत्र विराग होना, यही लक्षण वैराग्य का स्वरूप कहा गया है। अर्थात् जिसको कृष्ण प्रिय हों, ऐसे भगवदीय में स्नेह रखना चाहिए। तात्पर्य यह कि, किसी से स्नेह रखें तो भगवदीयता के कारण रखें - यह अर्थ है। यहाँ पुत्र शब्द तो केवल उदाहरण के रूप में समझाने के लिए आचार्यचरणों ने प्रयुक्त किया है, तात्पर्य यह है कि, पत्नी-आदि अन्य परिवारजन भी यदि कृष्ण से प्रेम रखते हों, तब ही उनसे प्रेम रखना चाहिए। वेद में कहे "जिन्हें पुत्र नहीं है, उनके लिए यह समस्त लोक के सुख व्यर्थ हैं" इस वाक्यानुसार पुत्र में स्नेह होना तो प्रमाणसिद्ध ही है, इसमें और अधिक क्या शेष रह जाता है अतः पुत्र में किस प्रकार का स्नेह करना चाहिए अथवा किस प्रकार के पुत्र में स्नेह करना चाहिए, यह बताने के लिए आपश्री ने पुत्र पद का प्रयोग किया है। अन्य दूसरे लोग या दूसरी वस्तुएँ तो हमारी आत्मा को सुखकारी लगती हैं, इस कारण उनसे प्रेम होता है और "आत्मा वै पुत्र" इस श्लोकानुसार पुत्र को ही अपनी आत्मा बताया गया है अतः वेद ने पुत्र के प्रति स्नेह की बात कही है। किंतु यहाँ पुष्टिमार्ग में तो भगवान् से ही निःस्वार्थ प्रेम होता है अतः पुष्टिमार्गीय को किसी भगवदीय से ही स्नेह होता है, अन्यत्र विराग।

मलं द्विविधम्, प्रतिजन्मनि जायमानं देहरूपमेकम्, प्रत्यहं जायमानमपरम्, उभयविधमलनिवृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम्।

मल दो प्रकार का होता है- एक मल का प्रकार वह है जो प्रत्येक जन्म में देहरूप से उत्पन्न होता है। दूसरा प्रकार वह जो प्रतिदिन देह में संचित होता रहता है। इन दोनों प्रकार के मलनिवारण का कार्य पायु-इन्द्रिय ही करती है ; अब इनमें से एक प्रकार के मलनिवारण की बात तो यहाँ कह दी गयी है अतः इससे दूसरे प्रकार के मलनिवारण की बात भी कह दी गयी जान लेनी चाहिए। अर्थात् यहाँ देह में प्रतिदिन संचित होने वाले मलनिवारण की बात तो कह दी गयी और दूसरी प्रतिजन्म के रूप में होने वाले मलनिवारण की बात भी इसी से समझ लेनी चाहिए।

घ्राणरसनोपस्थानां विनियोगमाहुः यस्य वेति। अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषयभोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः। एतेषामधुना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात् निग्रहमात्रं कर्तव्यम्। एतैर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः। वाशब्दोऽनादरे। यस्य एव इन्द्रियस्य कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले स्पष्टं न दृष्यते तदा तस्मिन् काले तस्येन्द्रियस्य विनिग्रहः कर्तव्यः। तदिन्द्रियं विषयान्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिव्रतावत्तूष्णीं स्थेयमित्यर्थः॥ १७,१८,१९,२०॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात्॥ १॥

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता निरोधलक्षणविवृतिः संपूर्णा॥

अब नासिका, रसना एवं जननेन्द्रिय इत्यादि इन्द्रियों का भगवान् में विनियोग कैसे करना ? यह आचार्यचरण **यस्य वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, इन इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य दूसरी इन्द्रियों को भगवान् में विनियोग करने का संकल्प एवं विषयभोगों की ओर नियंत्रण का संकल्प आपश्री ने पहले कह दिया है ; किंतु ऊपर कही इन्द्रियों का भगवान में विनियोग करने का संकल्प असंभव होने के कारण इनका मात्र निग्रह करना चाहिए, अर्थात् इनसे विषयभोग करने का संकल्प नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। "वा" शब्द निग्रह-प्रक्रिया को अनादर-अर्थ में कह रहा है। अर्थात् इन्द्रियों को भगवान् में योजित करने वाला पक्ष तो उत्तम है परंतु इसकी तुलना में निग्रह करने वाला पक्ष गौण है। श्रेष्ठपक्ष तो भगवान् में विनियोजित करना ही है, यह अर्थ है। यह समझिए कि, जिस इन्द्रिय का भगवत्संबंधी कार्य जब स्पष्टतया दिखाई न दे, तब उस इन्द्रिय का सम्यक् रूप से निग्रह करना चाहिए। उस इन्द्रिय को भगवान् के अतिरिक्त अन्य सांसारिक विषयों में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए, अपितु एक पतिव्रता स्त्री जैसे अपने पति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आकर्षित न होकर पति में ही निष्ठ होकर रहती है, वैसे सर्वत्र उदासीन होकर रहना चाहिए- यह अर्थ है॥ १७,१८,१९,२०॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजवल्लभकृतविवृतिसमेतम्

महात्माओं द्वारा अपने निजजनों पर कृपापूर्वक कहे गए इस ग्रंथ की, वदनानल-श्रीमहाप्रभु के दास द्वारा की गयी यह विवृत्ति पूर्ण हुई ॥ १ ॥

यह श्रीविट्ठलेशात्मज-श्रीवल्लभकृत निरोधलक्षणविवृत्ति संपूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

निरोधलक्षणम्।

॥श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम्॥

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणायुतान्। निरोधफलदानाय प्रभुणा प्रकटीकृतान्॥ १॥
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभोः। तत्कृपातः करिष्येऽहं निरोधविवृतिं मुदा॥ २॥
तदाविर्भावितश्रीमत्प्रभुसेवारसात्मकः। अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीविट्ठलेश्वरः॥ ३॥
वन्दे पितृपदाम्भोजं श्रीमदाचार्यसंश्रितः। यतोऽहमभवं सर्वसाधनाभाववानपि॥ ४॥

अपार करुणा से युक्त, निरोधफल का दान देने के लिये प्रभु द्वारा प्रकट हुए श्रीमदाचार्यचरणों को मैं नमन करता हूँ॥ १॥ जिन आचार्यचरणों के चरणकमलों को प्राप्त करना मूर्तिमान प्रभु को ही प्राप्त करना है, उनकी कृपा से मैं प्रसन्नतापूर्वक इस निरोधलक्षणग्रंथ की विवृति कर रहा हूँ॥ २॥

श्रीमहाप्रभुजी द्वारा अविर्भावित श्रीमद्-प्रभु की सेवा के रसस्वरूप हमारे प्रभुचरण प्रिय-श्रीविट्ठलेशवर मुझ पर कृपा करें॥ ३॥

पितृचरणकमलों को वंदन करता हूँ कि, जिनकी कृपा के कारण समस्त साधनों से रहित होकर भी मुझे श्रीमदाचार्यचरणों का आश्रय प्राप्त हुआ॥ ४॥

[1]अथोपोद्घाततया इदं विचार्यते, को निरोधः? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति। तत्रोच्यते। प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिर्निरोध इति। न च आसक्तिमात्रमिति स इति वाच्यम्। विषयासक्तौ व्यभिचारात्। न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किंतु विशेषतः तदभिनिवेश एव।

इस ग्रंथ की विवृत्ति का आरंभ करने की भूमिका के रूप में यह विचार करें कि आखिरकार यह निरोध है क्या? और इस निरोध की उत्पत्ति में कारण क्या है अथवा तो यह परमफल कैसे बनता है? इन प्रश्नों का अब हम समाधान लिख रहे हैं। सर्वप्रथम तो यह समझिये कि, प्रपंच की विस्मृतिपूर्वक आसक्ति हो जानी निरोध के नाम से जानी जाती है। किंतु यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल आसक्ति हो जानी मात्र ही निरोध कहलाता है क्योंकि आसक्ति तो सांसारिक विषयों में भी हो सकती है और सांसारिक विषयों में आसक्ति हो जाने को निरोध नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सांसारिक विषयों में आसक्ति हो जाने पर प्रपंच की विस्मृति तो होती नहीं, उल्टे प्रपंच में और अधिक चित्त डूबा रहता है।

न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अव्याप्तिरिति वाच्यम्। प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात्। न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्च इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात्।

यहाँ एक बात सावधानी से समझनी आवश्यक है। वह यह कि आसक्ति के द्वारा प्रपंचविस्मृति हो जाने पर उस आसक्ति को ही निरोध का लक्षण मान लेंगे तो किसी को यह शंका हो सकती है कि सांसारिक विषयों में आसक्ति हो जाने पर भी तो लोग सभी कुछ भूल जाते हैं, उस आसक्ति के कारण भी वे समस्त दुनियादारी भूल कर केवल उसी में रचे-पचे रहते हैं, जिसमें आसक्ति हुई है। तो ऐसी आसक्ति को भी हम निरोध होना कह सकते हैं क्या?? क्योंकि यदि प्रपंचबिस्मृति होनी ही निरोध का मूलकारण है, तो वह तो सांसारिक विषयों में आसक्ति होने से भी होती है एवं प्रभु में आसक्ति हो जाने से भी होती है फिर ऐसी आसक्ति को निरोध कैसे कहा जाय?? इस प्रकार निरोध के इस लक्षण में तो अतिव्याप्तिदोष उपस्थित हो रहा है - यह शंकाहोती है। इसका समाधान यह है कि, हम सारे के सारे संपूर्ण प्रपंच की विस्मृति के लिये ही कह रहे हैं। अर्थात् किसी भी एक जागति-

---

[1]. चिन्तां प्रकृतसिध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः।

तिक अथवा सांसारिक प्रपंच की विस्मृति होनी शेष रह जाये तो, इसे हम प्रपंचविस्मृति हो गयी ऐसा नहीं कहेंगे। और इसी कारण पूर्वपक्षी ने जो सांसारिक विषयों में आसक्ति के द्वारा प्रपंचविस्मृति की बात कही, उसमें अन्य दूसरे प्रपंच की विस्मृति तो अवश्य हुई परंतु उसे जिस विशेष वस्तु या पदार्थ या किसी जीव में आसक्ति है, वह वस्तु या पदार्थ या जीव भी तो अन्ततोगत्वा प्रपंच ही है, उसकी विस्मृति कहाँ हुई ? उल्टे आसक्ति और हो गयी। इसलिये सांसारिक विषयों में हुई आसक्ति को निरोध का नाम नहीं दिया जा सकता। कोई पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि, लौकिक आसक्ति का विषय प्रपंच के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता ; वह इसलिये क्योंकि इस प्रपंच में रहने वाले जीव के लिये जो कुछ भी आसक्ति का विषय बनेगा, वह विषय भी तो प्रपंच की शक्ति से ही उत्पादित होगा।

न च प्रपञ्चमात्रास्मरण आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम्। प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात्। न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयत्वं न स्यादिति वाच्यम्। योगजधर्मप्रत्यासत्त्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि, यहाँ जो कुछ भी है, वह जगत् अथवा तो प्रपंच ही तो है, इसके अलावा और है क्या ? और यदि प्रपंच की ही विस्मृति कर देंगे और इससे जब प्रपंच ही न रहा तो फिर आसक्ति होगी किसमें ? अब तो आसक्ति करने के लिये कुछ बचा ही नहीं ? यही बात तो हम समझाना चाह रहे हैं कि, हम जिस आसक्ति की बात कर रहे हैं, वह इस प्रपंच के विषय में है ही नहीं, वह तो प्रपंचातीत है, प्रपंच से परे है अर्थात् अलौकिक-विषयों की है। हम अलौकिक-विषय की अर्थात् भगवत्संबंधी आसक्ति की बात कर रहे हैं। पूर्वपक्षी यह शंका भी नहीं कर सकता कि, यदि प्रश्न प्रपंच से हटकर अलौकिक-विषय में होने वाली आसक्ति का है, तो फिर इस संसार, इस प्रपंच में रचे-पचे रहने वाले लौकिकजीवों को अलौकिक-आसक्ति होनी भला कैसे संभव है ? उसकी इस शंका का समाधान यह है कि, जैसे योग से उत्पन्न होने वाली अलौकिक शक्ति से योगी-महात्मा लौकिक इन्द्रियों के सामर्थ्य से प्राप्त न होने वाली अलौकिक वस्तुओं का भी दर्शन कर लेते हैं, वैसे यहाँ भी भक्ति से अलौकिकता का अनुभव किया जा सकता है।

किञ्च, [1]श्रुतानुरागस्थले लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव। अत एव कल्पतरुकामधेन्वादिमहात्म्यश्रवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामभिलाषः।

और भी, लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि, जिस वस्तु को हम अपनी लौकिक इन्द्रियों से कभी भी देख-सुन या अनुभव नहीं कर सकते हैं, उसके बारे में भी जब हम सुनते हैं तो उससे अनुराग हो ही जाता है। अतएव कल्पतरु, कामधेनु इत्यादि का माहात्म्य सुनने के पश्चात् लोगों में इनको प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती देखी गयी है।

वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुरवेद्यत्वेऽपि श्रवणवेद्यत्वात्। "कश्चिद् धीर" इति श्रुते"र्दिव्यं ददामि ते चक्षुः", "तस्मिन् दृष्टे परावरे", "पश्यन्ति ते मे", "त एव पश्यन्ति" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च विशिष्टचक्षुर्वेद्यत्वाच्च।

वास्तव में तो यह कहना चाहिए कि, इस प्रपंच से हट कर जो कुछ भी अलौकिक है, वह भी इन्द्रियों से ही जाना जा सकता है, भले ही वह लौकिक आँखों से दिखाई न पड़ता हो परंतु कानों से सुन कर उसे जाना गया तो है ही। "परमात्मा ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाए हैं अतः मनुष्य बाहरी वस्तुओं को ही देख पाता है। कोई विरला ही बाहर न देखकर अपनी अन्तरात्मा में बैठे हुए परमात्मा को देखता है(कठो० २-१-१)" इस श्रुति के द्वारा एवं "हे अर्जुन ! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ, तुम मुझे देख लो(भ०गी० ११-८)" , "उन परात्पर पुरुषोत्तम को तत्व से जान लेने पर हृदय की अविद्यारूप गाँठ खुल जाती है(मुण्ड० २-२-८)" , "जिनका चित्त एक मात्र मुझ भगवान् में ही लग गया है, वे साधुजन मेरे दिव्यरूप का दर्शन करते हैं(श्री० भा० ३-२५-३५)" , "हे भगवन् ! जो निरंतर आपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण करते हैं, वे ही आपका दर्शन पाते हैं(श्री० भा० १-८-३६)" इत्यादि स्मृतिवाक्यों के द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि, विशिष्ट नेत्रों से अलौकिक वस्तु का दर्शन किया जा सकता है।

ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधविशेषणतयोच्यत इति चेत्। न। तस्य ज्ञानमार्गीयमोक्षसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात्। अत्र तु भजनान्यथानुपपत्त्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात्। अत एव

१. श्रुतानुरागस्येति पाठः।

"त्वन्मायायात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य" इति वृत्तवचः। उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्वदीपे "ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहमेव विशिष्यत" इति। तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवात्र मृग्यमिति। अत एव भरताचार्योऽप्याह तल्लक्षणं "या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत" इति।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, प्रपंच की विस्मृति के बजाए प्रपंच का त्याग करना ही क्यों न कह दिया गया ? नहीं। प्रपंच का त्याग करके भगवत्प्राप्ति करनी तो ज्ञानमार्गीयों के मोक्ष का साधन है, यहाँ पुष्टिमार्ग में उसका कोई उपयोग नहीं है। हमारे यहाँ तो अपनी ममता का परावर्तन करके उसे प्रभु की ओर मोड़ देने को ही त्याग कहा गया है क्योंकि इसके बिना भगवद्भजन संभव न हो पायेगा। उन सांसारिक वस्तुओं की विस्मृति हो जानी मात्र ही हमारे यहाँ त्याग करना कहा जाता है। इसी कारण वृत्रासुर ने "हे प्रभु ! जो लोग देह, गेह, स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त हो रहे हैं, उनमें मेरी आसक्ति कभी न हो(श्री० भा० ६-११-२७)" इस प्रकार से प्रभु से प्रार्थना की है। हमारे श्रीमहाप्रभुजी ने भी श्रीभागवतार्थ तत्वदीप ग्रंथ में "ब्रह्मभाव प्राप्त करने की अपेक्षा पुष्टिमार्गीयों को गृह में रह कर प्रभुसेवा करनी ही अधिक श्रेयस्कर लगती है(शा०प्र०-५१)" यह कहा है। इसी कारण भरताचार्य ने भी निरोध का लक्षण "व्यसनदशा की प्राप्ति ही निरोध कहा जाता है" इस वाक्य द्वारा कहा है।

व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिरेव। अत एव क्षणमपि तत्र तेन विना स्थातुमशक्तिः। अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात्। अत एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वेन वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि" इति। विशेषेण असनं क्षेपणं सर्वस्य यस्मादितिव्युत्पत्त्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वमेव सिध्यति।

और व्यसन का अर्थ तो प्रपंच की विस्मृतिपूर्वक आसक्ति हो जानी ही है। इसी कारण व्यसन हो जाने पर उस वस्तु के बिना क्षणमात्र भी रहना अशक्य बन जाता है। आंशिकरूप में भी किसी अन्य का स्मरण हुआ तो, क्षणमात्र के लिये तो ध्यान हटा ही, इस कारण इसे व्यसन नहीं कहेंगे। इसी कारण श्रीमदाचार्यचरणों ने ऐसे व्यसन को परम दुर्लभ बताते हुए भक्तिवर्धिनी में "जब कृष्ण में व्यसन होता है, तभी जीव कृतार्थ होता है(५)यह कहा है। जिस वस्तु में व्यसन हो जाने पर उस व्यसन के द्वारा अन्य सभी दूसरी वस्तुओं को छोड़ दिया जाता है - यह व्यसन का लक्षण है। अतः इस कारण भी व्यसन से प्रपंचविस्मृति तो हो ही जाती है, यह सिद्ध हुआ।

स च निरोधो द्विविधः। भागवतोऽन्यश्च। अत एवोक्तमाचार्यैः "निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् दृढो भवति नान्यथे"ति। तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्तविषयकासक्तिरिति। "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः"रिति वचनात्। अस्येति षष्ठ्या भेदेन निर्देशात्। "निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीड़नं हरे"रित्याचार्यचरणैर्विवृतत्वाच्च। लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च। "स च गोपीभिः स्तोभित" इत्यादिना निरूपितः।

और वह निरोध दो प्रकार का है। एक भगवान् का निरोध भक्त द्वारा और दूसरा भगवान् द्वारा भक्त का निरोध होना। इसी कारण आचार्यचरणों ने "यदि भक्तों का निरोध भगवान् में एवं भगवान् का निरोध भक्त में हो, तो इन दोनों के परस्पर सुसंबंधित हो जाने पर निरोध दृढ़ होता है" यह कहा है। ऐसे में पहले प्रकार के निरोध अर्थात् भक्त द्वारा भगवान् के निरोध का लक्षण तो प्रपंच को भूलकर भगवान् की आसक्ति भक्त के विषय में हो जानी है। इस बात को "आत्मा के संग अपनी समस्त शक्तियों के द्वारा भगवान् का क्रीड़ा करना निरोध है(श्री० भा० २-१०-६)" इस श्लोक द्वारा कहा गया है क्योंकि इस श्लोक में कहे "अस्य" पद के द्वारा भगवान् का भी भक्त में निरोध होता है, इस बात को अलग से कह कर बताया गया है। आचार्यचरणों ने भी इसी बात को "इस जगत् में भगवान् का अपनी सर्वोत्कृष्ट शक्तियों के संग अर्थात् गोपिकाओं के संग क्रीड़ा करना "निरोध" है(सु० १०-१-१ ; का०-९)" इस कारिका द्वारा विवृत किया है। और भगवान् की दशविध लीलाओं के स्वरूप भागवत के तृतीयस्कंध से लेकर बारहवें स्कंध के अन्तर्गत दशमस्कंध को निरोध कहा गया है। भक्त द्वारा भगवान् के इस निरोध को "सर्वशक्तिमान भगवान् गोपियों के लिये साधारण बालक की भाँति नाचने लगते(श्री० भा० १०-११-७)" इत्यादि श्लोकों में निरूपित किया गया है।

नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते। अवधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन प्रमाणेन ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषां लीलासृष्ट्यतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात्।

अब कोई पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि, निरोध का यह लक्षण उपयुक्त नहीं है क्योंकि भक्तजन तो प्रपंच के अन्तर्गत होने के कारण प्रापंचिक हैं अतः यदि भगवान् उनके प्रति आसक्त हो जाएँ तो उन्हें प्रपंच का विस्मरण तो हुआ ही नहीं

क्योंकि आखिरकार भक्त भी तो प्रपंचरूप ही हैं ? यदि ऐसी शंका होती हो तो, हम इसका समाधान कह रहे हैं। सर्वप्रथम तो यह बताईये कि तुमने उन भक्तों को किस प्रमाण से प्रापंचिक मान लिया ? क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से तो यह बात सिद्ध ही नहीं हो सकती। क्योंकि उन भक्तों को लीलासृष्टि से अतिरिक्त और कोई व्यक्ति तो प्रत्यक्षरूप से देख ही नहीं सकता।

भक्तविशेषप्रत्यक्षस्याप्रापञ्चिकतानुकूलत्वात्। "सदा पश्यन्ति सूरय" इति श्रुतेः, "यद्धि पश्यन्ति मुनयः" , "ते एव पश्यन्ति", "पश्यन्ति ते मे" इत्यादिवाक्यैः। एतत्प्रपञ्चान्तःपाते भक्तानां सगुणदृग्विषयताया अनिवार्यत्वात्। अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैश्वर्यस्य "दिव्यं ददामि ते चक्षु"रिति प्रभुरुक्तवान्।

और यदि किसी को वे विशेषभक्त दिखाई देंगे भी , तो भी प्रपंचदृष्टि से रहित अलौकिकदृष्टि से ही दिखाई देंगे। इसी बात को "विष्णु के परमपद को विशिष्टभक्त ही देख सकते हैं(वि०सू०)" , "भगवान् ने गोपबालकों को पहले उस ब्रह्म का साक्षात्कार करवाया, जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनंत, सनातन और ज्योतिस्वरूप है, तथा जिसे समाधिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही देख पाते हैं(श्री० भा० १०-२८-१५)" , "जो भक्तजन बार-बार आपके चरित्र का श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनंदित होते रहते हैं, वे ही आपके चरणकमल का दर्शन कर पाते हैं(श्री०भा० १-८-३६)" , "जिनका चित्त एकमात्र भगवान् में ही लग गया है, वे साधुजन मेरी झाँकी करते हैं एवं मुझसे संभाषण करते हैं(श्री० भा० ३-२५-३५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। अब यदि भक्तों को इस प्रपंच के अंतर्गत मान लिया जाय, तो यह कहना अनिवार्य हो जायेगा कि, वे सगुण लौकिकदृष्टि से दिखाई पड़ सकते हैं। किंतु समझ लें कि उन्हें देखने के लिये अलौकिकदृष्टि की आवश्यकता होती है और इसी कारण प्रभु ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्य को अप्रापंचिक बताते हुए "मैं तुझे मेरे स्वरूप का दर्शन करने के लिये दिव्यदृष्टि देता हूँ(भ० गी० ११-८)" यह वाक्य कहा था।

नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात्। न च दृश्यत्वादेरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम् , दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात्।

अब पूर्वपक्षी ने जो ऊपर शंका की थी, उसमें प्रत्यक्षप्रमाण तो नहीं ही है, परंतु अनुमानप्रमाण भी नहीं है। क्योंकि अनुमानप्रमाण को सिद्ध करने के लिये उनके पास अनुकूल तर्क ही नहीं हैं। और यदि वे यह तर्क देते हों कि, जो-जो वस्तु नेत्रों से दिखाई देती हो, वह सभी प्रापंचिक है, जागतिक है अतः यदि वे भक्त नेत्रों से दिखाई देते हों तो वे भक्त भी प्रापंचिक हैं , तो समझ लीजिए कि दृष्टि के विषय का प्रकार तो हम ऊपर ही कह चुके हैं, कि उन्हें देखने के लिये इस जगत् में प्राप्त होने वाली लौकिक दृष्टि नहीं अपितु अलौकिक दृष्टि चाहिए।

शब्दस्तु "जयति जननिवासः", "तद्विष्णोः परमं पदम्" , "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्", "तं भजन् निर्गुणो भवेत् " , "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्", "मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त" इत्यादिवाक्यैरनुकूल एव इति नानुपपन्नम् किञ्चित्।

पूर्वपक्षी यहाँ शब्दप्रमाण भी नहीं दे सकता क्योंकि शब्दप्रमाण तो उल्टे हमारी कही बात को ही सिद्ध कर रहे हैं॥ देखिए...... " यद्यपि भगवान् सदा-सर्वत्र विद्यमान ही रहते हैं, फिर भी कहने के लिये उन्होंने देवकी के गर्भ से जन्म लिया है(श्री० भा० १०-९०-४८)" , "उन भगवान्-विष्णु का दर्शन परम-भगवत्कृपापात्र करते हैं(वि० सू०)" , "राजस-तामस-सात्विक लौकिकगुणों से परे मेरे स्वरूप का वास्तविक ज्ञान निर्गुणज्ञान है(श्री० भा० १०-२५-२४)" , "तं भजन्" , "परमात्मा इस संसार से मुक्त हुए महापुरुषों को ही प्राप्त होते हैं अतः लौकिकजीव को वे प्राप्त नहीं हो सकते(ब्र० सू० १-३-२)" ,"मुक्ता अपि" इत्यादि समस्त वाक्य हमारी ही बात को सिद्ध कर रहे हैं।

ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम् , तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत् , इत्थम्। भगवान् हि पुष्टिमार्गे अङ्गीकुर्वन् स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्", "आत्मारामोऽप्यखण्डितः", "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ", "न पारयेह"मित्यादिवाक्यैः। एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वस्वरूपमपि संपादयतीति तदर्थमज्ञत्वमपि युक्ततरम्। विविधानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः।

ठीक है भले ही वे भक्त अलौकिक हैं एवं दिव्यदृष्टि से ही देखे जा सकते हैं, किंतु एक शंका यह होती है कि, भगवान् की ज्ञानशक्ति तो कभी नष्ट होती नहीं, तो फिर उन्हें प्रपंच का विस्मरण होना कैसे संभव है ? इस शंका के समाधान में यह समझना चाहिए कि भगवान् जब किसी को पुष्टिमार्ग में अंगीकार करते हैं, तब वे स्वयं अपने आप के धर्मों का भी त्याग कर देते हैं और

विपरीत धर्म भी धारण कर लेते हैं। यह बात "यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं और उन्हें किसी की भी अपेक्षा नहीं है, फिर भी उन्होंने हँसकर गोपिकाओं के संग क्रीड़ा करनी आरंभ की(श्री० भा० १०-२९-४२)" , "हे परीक्षित् ! भगवान् तो आत्माराम हैं, अपने आप में ही संतुष्ट और पूर्ण हैं(श्री० भा० १०-३०-३५)" , "वैसे तो मैं सभी के लिये समान हूँ। न मेरा कोई द्वेषी है, न कोई प्रिय। फिर भी जो मुझे भक्ति से भजते हैं, उनमें मैं हूँ और वे मुझमें(भ० गी० ९-२९)" , "हे गोपिकाओं ! मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। यदि मैं चाहूँ तो भी तुम्हारे प्रेम, सेवा, त्याग का बदला नहीं चुका सकता(श्री० भा० १०-३२-२२)" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होती है। ऐसे में यह समझना चाहिए कि, प्रभु जिस जीव को निरोध का दान करने की इच्छा करते हैं, वहाँ वे अपने स्वरूप को उस जीव के अनुकूल भी बना लेते हैं और ऐसी परिस्थिति में वे अपने आप को अज्ञानी भी बना लेते हों, तो वह भी ठीक ही माना जायेगा। कारण कि प्रभु विविध प्रकार की अनंत शक्तियों के स्वामी हैं अतः वे जो कुछ भी करें, वह सभी कुछ युक्त ही है।

न च विरोधादज्ञत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्। विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य भगवति "तदेजति तन्नैजति" इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्। एतच्च यथा तथा अस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने। न च अज्ञत्वस्य अविद्याजन्यत्वनियमेन भगवति तदभावात् तथात्वमसंभवीति वाच्यम्। अविद्याया अपि "श्रिया पुष्ट्ये"ति वाक्यात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात्। न च "बन्धोस्याविद्यया अनादि"रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तया बन्धसंभव इति वाच्यम्। तस्यास्येतिपदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात्।

अब यदि वे कभी अज्ञानी भी बन जाते हों, तो यह मत कहिए कि अब वे सर्वज्ञ न रहे क्योंकि भगवान् में इस प्रकार विविधरूप से विरुद्धधर्मों के होने की बात तो श्रुति द्वारा सिद्ध है। श्रुति में कहे "परमात्मा चलते हैं, नहीं चलते। वे दूर हैं, वे समीप भी हैं। वे इस समस्त जगत् के भीतर भी हैं और इस समस्त जगत् के बाहर भी हैं(ई०उ०-५)" इस वाक्य द्वारा यही सिद्ध होता है। इसी बात को हमारे स्वामी प्रभुचरणों ने विद्वन्मंडन में भी बताया है, वहाँ भी देख लें। किसी पूर्वपक्षी को यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि, अज्ञानता तो अविद्या से उत्पन्न होती है और भगवान् में अविद्या तो प्रभाव डाल नहीं सकती अतः भगवान् चाहें तो भी अज्ञानी का स्वरूप कैसे धारण कर सकते हैं ? इस प्रकार से शंका न करें क्योंकि स्वयं अविद्या भी तो "विद्या-अविद्या इत्यादि शक्तियाँ मूर्तिमान स्वरूप से भगवान् की सेवा कर रही हैं(श्री० भा० १०-३९-५५)" इस वाक्यानुसार भगवान् की शक्ति है एवं उनके अधीन ही है। ऐसा भी नहीं है कि, "अविद्या के कारण इस जीव को बंधन हो जाता है। अविद्या अनादि होने के कारण बंधन भी अनादि कहलाता है(श्री० भा० ११-११-४)" इस वाक्य से कोई यह सोच ले कि अविद्या के आश्रित हो जाने पर भगवान् को उसका बंधन हो जायेगा। वह इस कारण क्योंकि इस वाक्य में अविद्या का बंधन जीव को होता है, यह कहा गया है। भगवान् को बंधन होता है-ऐसा नहीं कहा गया।

अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबंधे, "विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते"ति। तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्ग एव आविर्भावयतीति "मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि"तिवचनादवसीयते। अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्वाभिज्ञेन "संमुष्णन्" इत्यादि। तदेतत् सर्वमाचार्यैः"यथार्भकः स्वप्रतिबिंबविभ्रम" इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम्।

अतएव श्रीमदाचार्यचरणों ने निबंध में "विद्या एवं अविद्या ये हरि की दो शक्तियाँ हैं जो उनकी माया के द्वारा उत्पन्न होती हैं। इन दोनों से जीव में दुःख एवं पराधीनता का कष्ट प्राप्त होता है। ये दोनों जीव को ही प्रभावित करतीं हैं, जड़ या अंतर्यामी को नहीं(शा० प्र०-३१)" इस प्रकार से कहा है। ध्यान रहे कि, प्रभु जीव के लिये अज्ञानी भी बनते हैं तो वे अपना ऐसा विरुद्धात्मक धर्म केवल पुष्टिमार्ग में ही प्रकट करते हैं। यह बात स्वयं भगवान् के "हे दुर्वासाजी ! मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते एवं मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता(श्री० भा० ९-४-६८)" इस वाक्य द्वारा जानी जा सकती है। इसी कारण भगवान् के ऐसे स्वरूप के तत्व को जाननेवाले ने "माखनचोरी करते समय श्रीकृष्ण खंभे में स्वयं अपनी परछाईं देखकर डर गये" इत्यादि वाक्य कहे हैं। यह सभी कुछ "हे परीक्षित् ! जैसे नन्हा शिशु निर्विकारभाव से अपनी परछाईं के संग खेलता है, वैसे भगवान् गोपियों के संग रमण करते(श्री० भा० १०-३३-१७)" इस श्लोक की सुबोधिनी में निरूपित किया है अतः सुहृदजनों को वहीं से इस बात का तथ्य जान लेना चाहिए।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते। न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम्। तस्या अनुभवजन्यत्वात्। भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अननुभवात्। साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसंभवात्। "दिव्यं ददामि ते चक्षु"रिति वाक्यात्, "कश्चित् धीर" इतिश्रुतेश्च।

अब हम इस बात का विचार करते हैं कि, निरोध उत्पन्न होने का कारणभूत तत्व क्या है। जैसे कि लोक में यह बात प्रचलित है कि, कोई भी वस्तु यदि जन्म लेती है तो वह उसके पूर्व संस्कार के कारण जन्म लेती है, तो यहाँ यह कहना ठीक न होगा कि उसी प्रकार से निरोध भी किसी पूर्वसंस्कार के कारण उत्पन्न होता है। यहाँ वासना का सीधा सा अर्थ है- संस्कार। श्रीमद्भागवत के सप्तमस्कंध में भगवान् की ऊतिलीला है। ऊति का अर्थ है - वासना अर्थात् कर्मों के संस्कार। इसका तात्पर्य यह है कि, कोई व्यक्ति किसी विशेष कर्म में लिप्त हो एवं कुछ काल के पश्चात् उस कर्म को छोड़ भी दे, तब भी उस कर्म के संस्कार उसमें शेष रह जाते हैं। इसी शेष रह गये संस्कार को वासना कहते हैं। किसी भी वस्तु में आसक्ति, व्यसन या निरोध उत्पन्न होने की एक सामान्य प्रक्रिया होती है। सर्वप्रथम इन्द्रियाँ किसी विषय को ग्रहण करतीं हैं। जैसे नेत्रों का देखना, कानों का सुनना इत्यादि। इसके पश्चात् मन उस विषय का अनुभव करता है। जिस विषय का मन अनुभव करता है, उस विषय में वासना(संस्कार)उत्पन्न होती है और जिस विषय में वासना उत्पन्न होती है, उसी विषय का हमें व्यसन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वासना अनुभव से उत्पन्न होती है- यह लोकरीति है। टीकाकार यहाँ यही समझाना चाह रहे हैं कि निरोध वासना से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वासना होने के लिये उस विषय का पूर्व में अनुभव होना आवश्यक है। जब भगवान् का पूर्व में कोई साक्षात् अनुभव ही नहीं हुआ है, तो वासना और उस वासना से भगवान् में निरोध होना भी कैसे संभव है ? इसी बात को टीकाकार आगे स्पष्ट करेंगे। क्योंकि वासना तो अनुभव से जन्म लेती है। भगवान् से साक्षात्कार होने से पहले भगवान् का कोई अनुभव तो है ही नहीं क्योंकि लौकिकविषयों को ही ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के द्वारा भगवान् का अनुभव नहीं किया जा सकता। किंतु जब साक्षात्कार होता है, तब तो भगवान् दिव्यदृष्टि का दान करते हैं और तब उनका अनुभव होता है। यह बात "हे अर्जुन ! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ, तुम मुझे देख लो(भ० गी० ११-८)" , "परमात्मा ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाए हैं अतः मनुष्य बाहरी तत्व को ही देखता है। कोई विरला ही अंतरात्मा में विराजमान परमात्मा को देखता है(कठो० २-१-१)" इत्यादि श्रुतियों से जान लेनी चाहिए।

नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या "भक्त्या तु त्वनन्या", "विशते तदनन्तरम्", "ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण" इत्यादिवाक्यैः [1]सायुज्यमुक्तिफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात्।

भक्ति द्वारा भी निरोध उत्पन्न नहीं होता। भक्ति दो प्रकार की है - मर्यादाभक्ति एवं पुष्टिभक्ति। इसमें पहली मर्यादाभक्ति तो "अनन्यभक्ति द्वारा मुझे जानना, देखना संभव है(भ०गी ११-५४)", "भक्ति द्वारा तत्व से मुझे जानने वाला शीघ्र ही वैकुण्ठ में प्रवेश करता है(भ० गी० १८-५५)", "ज्ञान और भक्ति का एक ही फल है - भगवान् (श्री० भा० ३-३२-३२)" इत्यादि वाक्यों के द्वारा सायुज्यमुक्ति देती है, वह निरोध को उत्पन्न नहीं करती।

ननु "भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये"त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परंपरयैतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिभक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादामप्रसक्तेः। न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किंतु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा। अन्यथा "कृष्णेन चोद्धृता" इति वाक्यं विरुध्येत। न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति।

किंतु शंका यह होती है कि, इसी भागवत में "साधनभक्ति के द्वारा प्रेमभक्ति का उदय हो जाता है(श्री० भा० ११-३-३१)" इस श्लोक में यह बताया गया है कि, मर्यादाभक्ति के द्वारा पुष्टिभक्ति उत्पन्न होती है। और, जब यही पुष्टिभक्ति निरोध की साधिका बनती है तो फिर परंपरा से अर्थात् मर्यादाभक्ति>पुष्टिभक्ति>निरोध यों इस प्रकार मर्यादाभक्ति को भी निरोध का कारण क्यों न मान लिया जाय ? नहीं। ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि पुष्टिभक्ति भी निरोध को उत्पन्न करती है या नहीं, अभी तो यही एक विचारणीय मुद्दा है, फिर मर्यादाभक्ति द्वारा निरोध उत्पन्न होने की बात तो दूर रही। वह ऐसे कि, खुद पुष्टिभक्ति भी साक्षात् निरोध

१. पुरुषोत्तमसायुज्येति पाठः।

को सिद्ध नहीं करती किंतु खुद भगवान् जब निरोध को उत्पन्न करने में साधन बनते हैं, तो उस प्रक्रिया में पुष्टिभक्ति तो केवल निमित्त मात्र है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो "गोपबालकों का कृष्ण ने उद्धार किया(श्री० भा० १०-२८-१६)" यह वाक्य विरुद्ध हो जायेगा। यहाँ गोपबालकों का उद्धार स्वयं कृष्ण ने किया, भक्ति ने नहीं। और कभी भी अपने द्वारा किये साधनों से निरोध सिद्ध नहीं हो सकता।

अत एवोक्तमाचार्यैः "आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत"मिति। अत एव व्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा संपादितत्वात्। अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही"ति दुर्लभत्वमेवोक्तम्। तर्हि किमाकस्मिकतैवेति चेत् , न, स्वरूपस्यैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात्। तद्विशेषश्च सर्वात्मभावफलदानेच्छैवेति संक्षेपः। यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनभङ्गभिया योगक्षेमसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः।

इसी कारण आचार्यचरणों ने "आसक्ति प्रेम के पश्चात् होती है एवं प्रेम का संपादन भी हरि ही करते हैं(सुबो० १०-१८-;का०-३)" यह कहा है। इसी कारण निरोध की सिद्धि व्रजगोपिकाओं में ही हुई, अन्यों में नहीं। क्योंकि भगवान् ने निरोध का संपादन प्रेम-आसक्ति-व्यसनपूर्वक उनमें ही किया। अतएव आचार्यचरणों ने "जब कृष्ण में व्यसन होता है, तभी जीव कृतार्थ बनता है(भ० व०-५)" इस वाक्य द्वारा भगवान् में होने वाले व्यसन की दुर्लभता बताई है। तब क्या फिर निरोध अकस्मात ही, अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है ? यह प्रश्न उठता है। नहीं, ऐसा नहीं है। वास्तव में तो भगवान् का विशेष अनुग्रह करने वाला स्वरूप ही निरोध उत्पन्न होने में मूलकारण है, यह समझना चाहिए। और भगवान् के विशेष अनुग्रह का संक्षेप में अर्थ है - सर्वात्मभाव से सिद्ध होने वाले फल को देने की भगवान् की इच्छा। यद्यपि भगवद्भावना एवं भगवद्गुणगान इन दोनों को हम निरोध प्राप्ति में साधनता के रूप में सुनते हैं, तथापि यह समझिये कि यदि इन्हें हम साधन मान लेंगे तो हमारे संप्रदाय में निःसाधनता से प्रभुप्राप्ति की बात खंडित हो जायेगी अतः इन्हें साधन तो मानना चाहिए परंतु भगवन्मार्ग पर चलने के लिये योगक्षेम सिद्ध करने के साधन के तौर मान कर कहें - यह भाव है।

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते। सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात्। प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति। अयमर्थः। निरोधो हि प्रपंचविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात्। "रसं हि एवायं लब्ध्वा आनंदीभवती"ति श्रुतेः। प्रपंचविस्मृतिरूपत्वेन प्रापंचिकदुःखाभावरूपत्वाच्च।

अब हम इस बात का विचार कर रहे हैं कि, निरोध फलरूप कैसे बनता है ? क्योंकि निरोधावस्था में जीव को होने वाले सुख-दुःख के अभाव में से किसी एक का अभाव होने के कारण अर्थात् निरोध में सुख और दुःख दोनों में से किसी एक की भी सत्ता विद्यमान रहती होने के कारण निरोध को फल मानना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ अध्येताओं से एक निवेदन है। श्रीहरिरायचरणों की यह पंक्ति समझने में दुरूह है और इसका सरलीकरण मुझे अपेक्षित लगता है। तथापि आपने जिस स्तर की भाषा में इसे लिखा है, वह स्तर बनाये रखना भी आवश्यक है अतः अनुभवी पाठकों के लिये तो मैंने उपर्युक्त पंक्ति को रेखांकित करके उसका अनुवाद कर दिया है और अब आगे नये अध्येताओं के लिये पुनः इसी पंक्ति को रेखांकित करके अनुवाद लिख रहा हूँ। अब हम इस बात का विचार कर रहे हैं कि, निरोध फलरूप कैसे बनता है ? क्योंकि निरोधावस्था में या तो जीव को सुख प्राप्त होता है या दुःख, और इन दोनों फलों के कारण निरोध को फलरूप मानना अनिवार्य बन जाता है। इतना ही नहीं, जब निरोध में भगवदासक्ति हो जाती है तब जीव को अपने विषय भगवान् की प्राप्ति न होने के कारण दुःख सहन करना होता है। इसका अर्थ यह है कि, निरोध होने का तात्पर्य है - प्रपंच की विस्मृतिसहित भगवान् में आसक्ति हो जानी ; एवं उस आसक्ति का अर्थ है - अपने विषय भगवान् से संबंधित विविध मनोरथों की कामना से उत्पन्न हुआ भाव ; एवं भगवान् तो रसरूप हैं अतः भगवान् से संबंधित वह भाव भी सुखरूप है क्योंकि "परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप हैं एवं जीवात्मा इस भगवद्-रस को पाकर आनंदयुक्त होता है(तै०उ० २-७-२)" इस श्रुति से यह बात प्रमाणित हो जाती है। और तो और, निरोध में प्रपंच की विस्मृति हो जाती है अतः जीव को प्रापंचिक दुःख भी नहीं होता।

किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम्। तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्यापि आकांक्षणीयत्वेन तथात्वम्। "विपदः सन्तु ताः शश्वत्" इति वाक्यात्। अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात्।

इसके अलावा यह भी समझें कि फल और पुरुषार्थ दोनों एक ही हैं। पुरुषार्थ का अर्थ है - पुरुष ने जिसकी कामना की हो, प्रयत्न किया हो, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। संक्षेप में पुरुष जिसका अर्थी है, वह पुरुषार्थ है पुरुष में रही हुई किसी विशेष वस्तु की उसके द्वारा कामना करनी। सो, निरुद्धजीव भगवदासक्ति में आपतित भगवत्संबंधी दुःख की भी आकांक्षा करता है अतः हम इसे पुरुषार्थ/फल कह रहे हैं। देखिए, भागवत में कुंती ने भी "हे भगवान् ! हमारे जीवन में पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें क्योंकि विपत्तियों में ही आपके दर्शन हुआ करते हैं(श्री०भा० १-८-२५)" इस वाक्य द्वारा भगवान् से दुःख की, विपत्ति की आकांक्षा की है। इसके आगे टीकाकार ने फल या पुरुषार्थ को समझाने के लिये श्येन-याग का उदाहरण देकर समझाया है। वेद में श्येन-याग का विवरण आया है। किसी का अनिष्ट करने के लिये या मारने के लिए श्येन-याग किया जाता है। श्येन-याग करने वाले को नरक का फल प्राप्त होता है, यह उसी श्येन-याग के विवरण में वर्णित है। अब नरक का फल प्राप्त होना तो दुःख ही है। इस उदाहरण से टीकाकार यह समझाना चाह रहे हैं कि, श्येन-याग करने वाले को नरकरूपी फल प्राप्त होता है। यदि नरक को या दुःख को फल न माना गया होता तो वेद में ये क्यों लिखा होता कि श्येन-याग करने वाले को नरक का फल मिलता है ? तिस पर यह कि खुद श्येन -याग करने वाला यह चाहता है कि, उसे नरकरूपी दुःख का फल मिलता हो तो कोई आपत्ति नहीं है। उसे तो अपने शत्रु पर विपत्ति डालनी है, फिर भले ही नरक क्यों न भोगना पड़ जाय। इसी बात को टीकाकार आगे कह रहे हैं। इस बात को श्येनयाग के उदाहरण द्वारा समझें। तात्पर्य यह कि, यदि श्येनयाग में यज्ञकर्ता की खुद उस यज्ञ को करने की इच्छा एवं नरक का दुःख भी उठाने की तैयारी न मानी जाय, तो इन दोनों बातों के अभाव में श्येनयाग में कहा गया नरक का फल तो फल ही नहीं माना जा सकेगा ; जबकि श्येनयाग में तो नरक का फल माना ही गया है। अतः किसी कार्य को यदि करने की इच्छा मन में है, तो परिणाम में सुख हो या दुःख, उसे फल या पुरुषार्थ मानना आवश्यक हो जाता है।

ननु शत्रुविपत्तिरेव तत्फलम् , न नरक इति चेत् , न। "भूयान् मे नरकोऽपि शत्रुर्विपद्यतामि"तिधिया श्येनकरणात्। सुखसाधनं तदिति चेत् , तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः। न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। नरके सुखभ्रमायोगात्। तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्भिन्नस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति।

अब यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि श्येन-याग तो शत्रु का अनिष्ट करने के लिये, उन पर विपत्ति डालने के किये किया जाता है अतः इसका फल शत्रु पर विपत्ति आनी माना जायेगा, नरक प्राप्त होना नहीं। तात्पर्य यह कि जिस कामना से यह यज्ञ किया जाता है, वह कामना पूर्ण हो जाना ही फल माना जायेगा। नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि कोई ऐसी शंका करे तो इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि श्येन-याग करते समय वह खुद "मुझे नरक में भी क्यों न जाना पड़े, परंतु मेरे शत्रु पर विपत्ति आनी चाहिए" इस प्रकार की बुद्धि से याग करता है अतः यह सिद्ध होता है कि उस यज्ञकर्ता को यह बात मालूम है कि उसे नरकरूपी फल प्राप्त होने वाला है, तथापि वह नरक भोगना चाहता है, दुःख उठाना चाह रहा है। और यदि ऐसा मान लें कि नरक के दुःख के बावजूद वह इसलिये सुख मान रहा है कि, चलो शत्रु पर तो विपत्ति आयी ; तो तनिक हमारी कही हुई बात पर भी दृष्टि डालें। हम यह कह रहे हैं कि यदि पूर्वपक्षी यह कहना चाहे उसने सुख मिलने के भ्रम के वशीभूत होकर श्येन-याग किया है, तो यह बात निराधार है क्योंकि नरक में किसे सुख का भ्रम हो सकता है ? वहाँ तो सीधे-सीधे दुःख ही मिलना है। इसलिये, चूँकि पुरुषार्थ ही फल कहा गया है अतः निरोधावस्था में दुःख मिला हुआ होने पर भी निरोध को फल कहा ही जायेगा।

वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किंतु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकट्यसाक्षाद्धेतुतया परमानंद एव। अत एव श्रीशुकैर्दिवा वियोगदुःखानुभवसमयेपि "रेमिरेऽहःसु तच्चिता" इत्युक्तम्। श्रीमदाचार्यैरप्यभिहित"मतो निरोधो महाफल" इति। तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम्।

वास्तव में तो निरोधदशा में होने वाला विरह दुःख है ही नहीं, अपितु रसान्तर्गत होने के कारण वह दुःख प्रभु-प्राकट्य का हेतु बनता है अर्थात् उस दुःख को देखकर स्वयं प्रभु प्रकट हो जाते हैं अतः वह दुःख परमानंदरूप ही है। इसी कारण जब दिन के समय गोपिकाएँ प्रभु के वियोग का दुःख अनुभव कर रही थीं, तब उनके लिये शुकदेवजी ने "भगवान् जब दिन के समय

वन में गोचारण के लिये पधार जाते, तब गोपिकाएँ उनकी लीलाओं का चिंतन करते-करते उन्हीं में रम जातीं थीं(श्री०भा० १०-३५-२६)" इस प्रकार से कहा है। यह नहीं कहा है कि, उन्हें दुःख होता था। श्रीमदाचार्यचरणों ने भी "अतः निरोध महाफल है" यों कहा है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि निरोध समस्त फलों का शिरोमणि है।

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः। तदुत्तरवर्तिस्कंधद्वयप्रतिपाद्यलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरस्या-श्रयस्यैव वा तथात्वोक्त्यौचित्यादिति चेत् , न। मुक्ताश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कंधद्वयेन प्रतिपादनात्। तथाहि। निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम् , सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्यैव व्यवस्था। सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकतया निवर्तनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्त्य देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं संपाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वस्थानाद्विमोचयति, पुनः तदुपरतौ स्वाश्रितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलसिद्धिविरोध इत्यर्थः।

अब यहाँ शंका यह होती है कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध में वर्णित निरोध परमफल कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि परमफल तो अंतिम-अवस्था है और इसके आगे कुछ नहीं हो सकता। जबकि दशमस्कंध के पश्चात् दो स्कंध और भी हैं। अतः दशमस्कंध के पश्चात् आगे आने वाले एकादशस्कंध में कही मुक्तिलीला एवं द्वादशस्कंध में कही आश्रयलीला में से किसी एक को अथवा तो आश्रयलीला को ही परमफल मानना उचित था ; इन्हें छोड़कर दशमस्कंध में वर्णित निरोध को ही परमफल मान लेना क्यों आवश्यक है ? नहीं.....ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुक्तिलीला और आश्रयलीला का प्रतिपादन भगवान् की निरोधलीला के उपयोगीलीला के रूप में किया गया है। वह इस प्रकार कि सगुण और निर्गुण के भेद से निरोध दो प्रकार का होता है। प्रकृति के सत्व-रज-तम गुणों से युक्त को सगुण कहा जाता है। जिस भक्ति में इन प्राकृतिक सत्व-रज-तम गुणों का समावेश होता हो, वह सगुणभक्ति कहलायेगी अथवा वे सगुणभक्त कहलायेंगे। और जिस भक्ति में केवल प्रभु ही लक्ष्य होते हैं, जिस भक्ति में प्रभु के अतिरिक्त और किसी की कामना नहीं होती वह निर्गुणभक्ति कहलाती है। इसी प्रकार ऐसी भक्ति के अनुरूप होने वाला निरोध भी सगुण-निर्गुण निरोध होता है, यह अर्थ है। निर्गुण निरोध में तो कुछ और ही व्यवस्था है परंतु जहाँ तक सगुण निरोध की बात है तो, इसमें निरुद्धभक्त की देह भौतिक होने के कारण उस देह का निवर्तन होना आवश्यक है, अतः भगवान् भक्तिमार्ग के प्रकार से उसकी देह की भौतिकता दूर करके उसे लीलोपयोगी अलौकिक देह का दान करके उस देह को अपने अंतःकरण में स्थापित कर देते हैं ; और जब उन्हें लीला करने की इच्छा होती है, रमण करने की इच्छा होती है, तब उसे अपने अंतःकरण के स्थान से "मुक्त" करके, बाहर प्रकट करके उसके संग रमण करते हैं। रमण पूर्ण हो जाने के पश्चात् फिर उसे अपने अंतःकरण के ही "आश्रित" कर लेते हैं। अतः इस प्रकार भगवान् की यह "मुक्ति" एवं "आश्रय" लीला सगुण निरोध की उपयोगी लीला के रूप में निरूपित की गयी है, सो इस दृष्टि से निरोध को परमफल सिद्ध करने में कोई विरोध नहीं है।

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परंपराभेदेन गौणमुख्यभेदेन वा निरूपयितुं तन्निमित्तकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वबोधाय स्वविषयकतयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति। निरोधे हि साधनद्वयम् , तद्भावभावनं गुणगानं वा। तत्र भावनीयभावश्च सर्वात्मभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मको, "विकलत्वं तथास्वास्थ्य"मिति वाक्यात्। तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रपंचविस्मृतिसंपादकतया अभ्यर्हितं प्रथमं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते यच्च दुःखमिति।

इसके पश्चात् निरोधरूपी परमफल का निरूपण करते हुए निरोध सिद्ध करने के साधन को साक्षात् परंपरा भेद से अथवा गौण-मुख्य भेद से निरूपित करने के लिये आचार्यचरण निरोध प्राप्त होने के दो निमित्तकारणभूततत्व "भावभावन" एवं "गुणगान" में से सर्वप्रथम मुख्य "भावभावन" की दुर्लभता बताने के लिये ऐसे भावों को खुद अपने तक ही सीमित रख रहे हैं और तीन श्लोकों द्वारा भगवान् से प्रार्थनारूप में उनको **यच्च दुःखं** इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। निरोध प्राप्त करने के दो ही साधन हैं - एक भगवद्भावों की भावना करनी अथवा तो भगवान् का गुणगान करना। ऐसे में भावना करने योग्यभाव सर्वात्मभाव के द्वारा निरुद्ध हुए भक्तों के लिये सुःखदुःखात्मक होता है। यह बात संन्यासनिर्णय में "विरहदशा में विकलता एवं अस्वस्थता होती है(९)" इस पंक्ति द्वारा कही गयी है। कारण कि भगवद्भावन से प्रपंचविस्मृति होती है अतः उस भावन को साधनरूप से निरूपित करने के लिये सर्वप्रथम भाव के प्रथम-अंश दुःख की प्रार्थना आचार्यचरण **यच्च दुःखं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यदिति प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकट्यकारणं युगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रभुस्वरूपात्मकं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संवलितसुखशबलितमपि दुःखं यशोदाया अशास्त्रीयभक्तायाः सर्वथा दयाधिकरणभूतायाः यावद्भावद् हृदयदेशाधिष्ठितस्थायिभावोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः, तथा नन्दादीनां श्रीनन्दप्रभृतीनामखिल-व्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैवं कथनं "मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया" इत्यादि, तदपि गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्थानस्थितानामेव संपादितं दुःखं मम क्वचिदपि स्यादित्यग्रिमेण संबंधः ।

यत् अर्थात् श्रीभागवत आदि में प्रसिद्ध परमार्तिरूप, प्रभुप्राकट्य का कारण, अनुभूत हुई समस्त लीलाओं को एकसंग अनुभव कराने वाला, लोक से विलक्षण अलौकिक, प्रभु का स्वरूपात्मक, वास्तव में तो फलरूप ऐसा दुःख ; और "च" शब्द का अर्थ यह है कि, उस दुःख से जुड़े हुए सुख से भी युक्त निरोध मुझे कब होगा ? यह आचार्यचरण प्रार्थना कर रहे हैं। वह दुःख जो शास्त्रीय भक्ति की मर्यादा में न बँधी हुई यशोदजी को हुआ, वह यशोदाजी जो सर्वथा भगवद्-दया की पात्र हैं ; इसी प्रकार श्रीनंदरायजी जैसे अन्य समस्त व्रजवासी एवं "च" शब्द के द्वारा उनसे संबंधित अन्यों को भी परमफल का दान देने की इच्छा वाले भगवान द्वारा जो दुःख प्राप्त हुआ, जिस दुःख के कारण व्रजवासियों के "हे उद्धवजी ! हम यही चाहते हैं कि हमारे मन की वृत्ति, संकल्प श्रीकृष्ण के चरणकमलों के ही आश्रित रहे(श्री० भा० १०-४७-६६)" इस प्रकार के वाक्य हैं ; वह भी गोकुल में जो सर्वथा निरोध का स्थान है ; उस स्थान में रहने वालों को भगवद्विरह में जो दुःख मिला, क्या वह दुःख कभी मुझे प्राप्त होगा ? यह अर्थ है ।

एवं श्रीयशोदानंदादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुरापं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते गोपिकानां त्विति। तुशब्दः पूर्वस्मादौत्कट्यवैलक्षण्यादिबोधकः। गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिभिर्धर्मैः सर्वथा निरुद्धानां यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ, वस्तुतो भावांशभूततयानन्दरूपं तद्दुःखं मम क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु स्यादिति अभिलाष इत्यर्थः।

इस प्रकार भगवान् से क्रमपूर्वक श्रीयशोदानंद-आदि के दुःख के दान की प्रार्थना करके गोपिकाओं के दुःख की प्रार्थना **गोपिकानां तु** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं, जो अति दुर्लभ है। "तु" शब्द से यह ज्ञात होता है कि गोपिकाओं का दुःख प्राप्त होना श्रीयशोदाजी, श्रीनंद-आदि के दुःख की अपेक्षा अधिक उत्कट है, अधिक विलक्षण है। गोपिकाओं को अर्थात् व्रजसीमन्तिनियों को अर्थात् भगवान् की आत्मीयता एवं भक्त के वश हो जाने वाले धर्मों के द्वारा सर्वथा निरुद्ध हुए भक्तों को जो दुःख हुआ, वह मुझे हो- यह अर्थ है। जो दुःख भगवान् का स्वरूपात्मक है और श्रीभागवत आदि में रसात्मकरूण मे प्रसिद्ध है, जो दुःख वास्तव में भावभावन का अंशभूत है और इसी कारण आनंदरूप भी है, वह दुःख मुझे मेरी देह-इन्द्रि -प्राण-अंतःकरण में क्या कभी होगा ? इस प्रकार से आचार्यचरणों की प्रभु से अभिलाषा है, यह अर्थ है।

ननु व्रजवासिनो हि सर्वेपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्रनिमग्ना दुःखलेशसंभावनारहिताः स्वाश्रितशोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसमुत्पन्नाः, तद्दुःखप्रार्थनमसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते। "रसो वै स" इतिश्रुत्या भगवान् रसात्मक इत्यविवादम्। स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रभोरपि तथा मन्तव्यं रूपमकामेनापि त्वया।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि समस्त व्रजवासी तो सर्वात्मभाव से सर्वथा आनंदनिधिरूप भगवान् को प्राप्त करने वाले, परमानंद के सागर में डूबे हुए, लेशमात्र दुःख की संभावना से भी रहित हैं। इनके आश्रित जो हो जाय, उसके भी शोक को दूर कर देने में समर्थ हैं और भगवान् की आनंदसृष्टि में उत्पन्न हुए जीव हैं। अब इन्हें कैसे दुःख हो सकता है, कि आचार्यचरण इनके दुःख की प्रार्थना कर रहे हैं ? तो अब हम इस शंका का समाधान कर रहे हैं। सर्वप्रथम तो "भगवान् ही रस हैं(तै० उ० २-७-२)" इस श्रुति के द्वारा भगवान् रसात्मक हैं, इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है। एवं वह रस रसशास्त्र में सिद्ध हुए प्रकार से ही

रस बनता है, अतः न चाहते हुए भी तुम्हें भगवान् का रूप भी रसात्मक ही मानना पड़ेगा, जैसा भगवान् का रूप शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

तथा च पूर्वरसरीत्या स्वरूपानन्ददानं "आत्मना प्रथमा लीले"त्याद्युक्तप्रकारेण पञ्चधा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषां अतिव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र सुखत्वव्यवहारः,यत्रोत्तररीत्या रसदानं तन्मनस्येवेति तस्याव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तथात्वेन बहिःप्राकट्याभावात् तत्र दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम्। वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशमस्कंधविवृतावसकृदभिहितमिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिक् ॥ १ ॥

सो इस प्रकार संयोगरस की रीति से भगवान् के स्वरूपानंद का दान "भगवान् सर्वप्रथम आत्मा के द्वारा रमण करते हैं, फिर मन के द्वारा, फिर वाणी द्वारा, फिर इन्द्रियों द्वारा, फिर शरीर द्वारा यों पाँच प्रकार से रमण करते हैं(सुबो० १०-२६-१ ; का०-६)" इस सुबोधिनी की कारिका के अनुसार देह-इन्द्रिय-प्राण-अंतःकरण आदि में पाँच प्रकार से होता है। अब देह- इन्द्रिय-प्राण-अंतःकरण इत्यादि तो व्यक्त हैं, स्पष्टरूप से दिखाई देते हैं अतः इनमें रहा हुआ भगवान् का स्वरूपानंद भी स्पष्टरूप से दिखाई पड़ जाता है अतः देखने पर वहाँ व्यवहारतया सुख दिखाई पड़ जाता है, किंतु जब भगवान् विप्रयोगरस की रीति से रसदान करते हैं, तो विप्रयोग तो मन में ही होता है और वह बाहर दिखाई नहीं पड़ता। अतः उसमें रहा हुआ स्वरूपानंद भी अंदर मन में ही रहता है और बाहर प्रकट न होने के कारण उसे दुःख माना जाता है। अतः वास्तव में तो यह दुःख है ही नहीं बल्कि महान आनंद है, जिस महान आनंद की चर्चा श्रीमहाप्रभुजी ने दशमस्कंध की विवृत्ति में वारंवार की है, अतः सुहृदों को यह भाव वहीं से जान लेना चाहिए॥ १॥

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिसुखप्रार्थनस्य रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्यायोग्यतया तदप्राथ्य गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशभूतं प्रार्थयन्ते गोकुले गोपिकानामिति।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासंबंधिनी लीला, सैव ताभिर्विरहे सर्वदा अनुभूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति।

इस प्रकार भगवद्भावना करने के लिये भाव का प्रथम-अंश दुःख की प्रार्थना करके अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण उस भाव का दूसरा अंश सुख की प्रार्थना कर रहे हैं। चूँकि आचार्यचरणों का स्वरूप रासस्त्रीभावपूरित(रास की गोपिकाओं के भावों से पूरित) है अतः श्रीयशोदानंद-आदि के सुख को प्राप्त करने का भाव आचार्यचरणों के योग्य नहीं है, इस कारण उनके सुख की प्रार्थना न करते हुए आचार्यचरण गोपिकाओं के ही सुख की प्रार्थना कर रहे हैं। इसे वे **गोकुले गोपिकानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

दो स्थलों पर भगवान् की गोपिकाओं से संबंधित लीलाएँ हैं। गोपिकाएँ विरह में उन्हीं लीलाओं का अनुभव करतीं हैं और सुख का अनुभव करतीं हैं, जैसा सुख उन्हें प्रभुसंग में, प्रभु के संयोग में मिलता है।

तत्र प्रथमं गोकुले भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छावलंबनहैयङ्गवस्तेयनृत्यगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिग्रहितानां चकारात् तद्द्वारकमन्येषां गोपादीनां शय्यास्तरणस्थलसमीकरणादिभिरसङ्कोचेन सर्वेषां व्रजवासिनां तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पक्ष्यादीनां च यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसंपादकमभूत् तत् किं मे मम मत्संबंधी वा हृदयस्थो भगवान् किं विधास्यति विशेषेण करिष्यति पोषयिष्यतीति वार्थः।

इस परिस्थिति में गोकुल में भगवान् की बछड़े की पूँछ पकड़नी, माखनचोरी, नाचना-गाना, गोपिकाओं के कहे अनुसार बैठने के लिये पट्टा ले आना इत्यादि लीलाओं द्वारा सर्वथा परिगृहीता गोपिकाओं को जो सुख मिला, वह सुख ; इसी प्रकार श्लोक में प्रयुक्त हुए "च" शब्द से उन गोपिकाओं द्वारा अन्य गोपबालकों को मिलने वाला सुख और भगवान् की शैया बिछाने, बैठने-शयन करने के लिये भूमि ठीक-ठाक करने जैसी भगवान् की निःसंकोचरूप से की गयी लीलाओं से समस्त व्रजवासियों को जो सुख मिला, वह सुख ; एवं उन व्रजवासियों से संबंधित उनके संबंधियों को, पशु-पक्षियों को जो सुख मिला, वह सुख ; ऐसा सुख

जिसने उन्हें भगवान् की अनुभूयमान लीलाओं में लीन करा दिया ; ऐसे सुख के लिये आचार्यचरण कह रहे हैं कि, मुझसे संबंधित भगवान् अथवा मेरे हृदय में विराजे हुए भगवान् क्या वह सुख मुझे देंगे ? क्या उस सुख से कभी मुझे पोषित करेंगे, यह अर्थ है।

किमिति प्रश्नार्थकाव्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्याधीनतया पूर्वोक्तदुःखातितो दुर्लभत्वं सूचितम्। अन्यत्र तथाकरणे सामर्थ्याभावमाशङ्क्याहुः भगवानिति। स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायामन्यत्रापि तथा करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

आपश्री यहाँ "किं"(क्या मुझे देंगे ?)" इस प्रश्नार्थक-अव्यय का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि, ऐसा सुख लीलायुक्त प्रभु के प्राकट्य के बिना प्राप्त होना असंभव है अतः यह सुख पूर्व में कहे दुःख की अपेक्षा अधिक दुर्लभ है, यह बात सूचित करना चाह रहे हैं। अब किसी को यह शंका हो कि प्रभु ने उन गोपिकाओं, गोपबालकों, पशु-पक्षियों को तो प्रकट होकर अपनी लीलाओं का सुख दिया परंतु उनसे अतिरिक्त जीवों को कदाचित् नहीं दे सकते, उनमें कदाचित् ऐसा सामर्थ्य न हो, तो इस शंका का समाधान आपश्री **भगवान्** शब्द से कर रहे हैं। भगवान् तो सर्वत्र सभी कुछ करने में समर्थ हैं अतः उनकी कृपा होगी तो वे प्रकट होकर अन्य जीवों को भी अपनी लीलाओं का सुख अवश्य देंगे, यह अर्थ है ॥ २ ॥

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतितीव्रविरहभावोत्पत्तौ नाशसंभावनायामुद्धवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावनिवर्तकतया स्फूर्तिविषयो जात इति भावान्तःपातेपि लीलाजनितसुखविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते उद्धवागमन इति।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य आगमने जातः प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगवत्स्वरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्धारणात् उत्पन्नः यः स्वार्थदूतप्रेषणाभिमत्यात्मको य उत्सवो व्रजसीमन्तिनीनां यथा येन प्रकारेण तथा तेनैव प्रकारेण तद्भावभावनायां मे मम मनसि क्वचित् कदाचिदपि स्यादित्यभिलाष इत्यर्थः।

इस प्रकार भावना करने के लिये सुखदुःखरूपी दो भावांशों की प्रार्थना करके अब आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि अति तीव्र विरह का भाव उत्पन्न होने पर कदाचित् गोपिकाओं के देहनाश की संभावना भी हो सकती थी। और ऐसे में उद्धवजी का आगमनरूपी उत्सव उस देहनाश की संभावना का निवर्तन करने वाला सिद्ध हुआ था अतः यह बात गोपिकाओं के लिये पुनः स्फूर्ति-विषयक बन गयी। यद्यपि यह उत्सव सुख का अंतःपाती है, तथापि भगवद्-लीला का दर्शन करने से उत्पन्न हुए सुख से अधिक विलक्षण है। यद्यपि संयोग में सुख है तथापि विरह में किसी भगवदीय के आगमन पर मन में जो उत्सव होता है, वह उत्सव भी सुखरूप है अतः वह सुख भी संयोगसुख का ही एक अंशभूत सुख है। उस सुख की प्रार्थना आचार्यचरण **उद्धवागमने** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, उत्सवरूपी उद्धवजी का व्रज में आगमन होने पर व्रजसीमन्तिनियों ने उन्हें देखा तो उद्धवजी का रूप एवं उनके अवयव उन्हें भगवान् जैसे ही दिखाई पड़े, तब उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि यह कोई भगवदीय ही हैं। तब उनके मन में जो सर्वविलक्षण उत्सव उत्पन्न हुआ और जब उन्होंने यह माना कि भगवान् ने हमारे लिये ही उनका कोई दूत भेजा है, तब उनके मन में जो जिस प्रकार का उत्सव हुआ, वह उसी प्रकार के उत्सव के भाव की मेरे मन में भावना उत्पन्न होने पर मेरे मन में भी वह उत्सव कभी होगा क्या ? यह आचार्यचरणों की अभिलाषा है, यह अर्थ है।

अयमुत्सवो नन्दादीनां गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति वृन्दावने गोकुले वेति। वृन्दावने पुष्टिस्थाने रहसि व्रजस्त्रीणां, गोकुले गोष्ठे नन्दादीनामिति व्यवस्था। "गच्छोद्धव व्रजं", "प्राप्तो नन्दव्रज"मिति सामान्योक्त्यावसीयते। नन्वागमनोत्सवप्रार्थने प्रभ्वागमनसमयोत्पन्न"स्तं विलोक्यागत"मित्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत् , तत्राहुः सुमहानिति। प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्दूतागमनोत्सववैशिष्ट्यस्यानुभवसिद्धतया विरहरसपोषकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः ॥ ३ ॥

निरोधलक्षणम्।

यह उत्सव नंद-आदि को एवं गोपिकाओं को हुआ, इस व्यवस्था को बताने के लिये आपश्री **वृन्दावने गोकुले वा** इत्यादि शब्दों से दो स्थानों का निर्देश कर रहे हैं। वृन्दावने अर्थात् पुष्टि के स्थान में, वहाँ एकांत में व्रजस्त्रियों को ; एवं गोकुले अर्थात् गायों के गोष्ठ में नंद-आदि को जो उत्सव हुआ, वह ; यह व्यवस्था है। यह बात "हे उद्धव ! तुम व्रज में जाओ(श्री० भा० १०-४६-३)" , "उद्धवजी सूर्यास्त समय नंदबाबा के व्रज में पहुँचे। उस समय जंगल से गौएँ लौट रही थीं। उनके खुरों से उड़ती धूल से उनका रथ ढँक गया(श्री० भा० १०-४६-८)" इत्यादि वाक्यों से जानी जा सकती है। किंतु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि, "परम सुंदर मनोहर श्यामसुंदर को आया देखकर गोपियों के नेत्र आनंद से खिल गये, उनके प्राणहीन शरीर में मानों दिव्य प्राणों का संचार हो गया(श्री० भा० १०-३२-३)" इस वाक्य में वर्णित प्रभु के आगमन पर गोपिकाओं में जो उत्सव उत्पन्न हुआ, आचार्यचरण ऐसे उत्सव की प्रार्थना क्यों नहीं कर रहे हैं, उद्धवजी के आगमनरूपी उत्सव की ही प्रार्थना क्यों ? इस शंका का समाधान आपश्री के **सुमहान** पद से मिलता है। अपने प्रिय के आगमन की अपेक्षा विरहदशा में प्रिय के दूत के आगमन का उत्सव अधिक विशिष्ट होता है और यह बात अनुभव सिद्ध है। दूत के आगमन का उत्सव विरहरस का पोषण देता है अतः यह उत्सव तो प्रिय के आगमनरूपी उत्सव से भी महान है, यह अर्थ है ॥ ३॥

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैवेति तत्साधननिर्देशः प्रार्थनाव्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया तदधिकारानुसारेण सायुज्यं सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

यावत् भगवान् दययिष्यति फलोन्मुखां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्यमानः कीर्तनविषयीक्रियमाणः एव स सुखायेत्यर्थः। "महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे", "विना महत्पादरजोभिषेकम्", "किरातहूणान्ध्र", "देवर्षिर्मे प्रियतमः", "त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन", "सदनुग्रहो भवा"नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः महतां कृपयेति। महतां भगवद्धर्मैः महत्वमापन्नानां कृपया करुणयेत्यर्थः। अनवतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारैवोद्धारात्। एतेन इदानी भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति।

इस प्रकार से आचर्यचरणों ने यहाँ तक यह बताया है कि, अलौकिक सामर्थ्यरूप मुख्य निरोध तो केवल आपश्री का ही है अतः उस निरोध के साधनों का निर्देश आपश्री ने प्रार्थना के बहाने उन तक ही सीमित रखा है। अन्य दूसरों को महापुरुषों की कृपा द्वारा उनके-उनके अधिकारानुसार भगवान् सायुज्य देंगे अथवा तो सेवोपयोगी देह प्रदान करेंगे - इस अभिप्राय से उक्त दो फल मिलने तक किस प्रकार से जीव को जीवनयापन करना, उसका प्रकार **महतां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यावत् भगवान् दययिष्यति का अर्थ है - जब भगवान् फलदशा की ओर ले जाने वाली दया करेंगे, वह समय आने तक वह भगवान् जिन्हें आपने अपने कीर्तन का विषय बनाया है, वही भगवान् आपके लिये सुखरूप सिद्ध होंगे। "महस्ते", "हे रहूगण ! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने आप को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, धर्म इत्यादि से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती(श्री० भा० ५-१२-१२)" , "किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द्य इत्यादि निम्न जातियाँ भी शरणागत भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाती हैं(श्री० भा० २-४-१८)", "भगवान् ने सोचा कि देवर्षि नारद मेरे अत्यंत प्यारे हैं अतः उन्होंने जैसा कहा है, मैं वैसा ही करूँगा(श्री० भा० १०-१०-२५)" , "संतपुरुष आपके चरणों का आश्रय लेकर इस संसारसागर को अनायास ही पार कर जाते हैं(श्री० भा० १०-२-३०)" इत्यादि वाक्यों के द्वारा भगवान् की दया होने में महापुरुषों के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा कारण नहीं है, यह बताने के लिये आचार्यचरण **महतां कृपया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **महतां** का अर्थ है - भगवद्-धर्मों का अनुशीलन करने के कारण महत्ता को प्राप्त करने वाले महापुरुष ; उनकी कृपा द्वारा, करुणा द्वारा, यह अर्थ है। क्योंकि भगवान् की अनवतार दशा में विशेषरूप से महापुरुषों द्वारा ही उद्धार होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, इस समय भक्तिमार्ग के निर्वाहक ये महापुरुष ही हैं।

ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिष्विव दुःखमेवेत्याशङ्क्याहुः आनन्दसन्दोह इति। भगवता आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति, न कर्मादिभिरिव दुःखमित्यर्थः। अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षित् एतदर्थकमेव "श्रोत्रमनोभिरामा"दितिगुणानुवादविशेषणमुक्तवान्। हीति युक्तोयमर्थः। कीर्तनविषयस्यानन्दसन्दोहरूपत्वे सुखस्य युक्तत्वात्॥ ४॥

अब शंका यह होती है कि, भले ही भगवान् का कीर्तन करते रहें, तथापि फलदान प्राप्त होने तक क्या दुःख ही प्राप्त होगा, जैसे कि कर्ममार्ग में मोक्ष प्राप्त होने तक साधन-अवस्था में कष्ट प्राप्त होता है ?? इस शंका का समाधान **आनंदसंदोह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। कारण कि भगवान् आनंदसमुदायरूप हैं अतः उनके गुण भी उनसे भिन्न न होकर उनके समान ही भक्त के योगक्षेम का निर्वाह करते हैं अतः साधनदशा में भी उनका गुणगान, उनका कीर्तन करने से आनंद ही प्राप्त होता है, कर्ममार्ग इत्यादि की भाँति दुःख नहीं - यह अर्थ है। इसी कारण भगवत्कथारस के मर्म को जानने वाले राजा परीक्षित् ने भगवद्गुणानुवाद के विषय में "श्रोत्रमनोभिरामा" यह वाक्य कहा है। इस श्लोक में प्रयुक्त "हि" शब्द आपश्री ने इस अर्थ को युक्त बताने के लिये कहा है क्योंकि जिस भगवान् का आप कीर्तन कर रहे हैं, वह आनंदसंदोहरूप है, तो उसका कीर्तन सुखकारी तो होगा ही॥ ४॥

ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः यथाकथञ्चिदपि कृतं तत्तथेति प्रश्नेनेत्याहुः महतां कृपयेति।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥ ५॥

यद्वत् यथा महतां महापुरुषाणां कृपया करुणया लोकविलक्षणानां भगवत्सम्बन्धिनां कृपया निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छया सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं सुखदं तापत्रयनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्ददायकं निरोधजनकं वा तथा लौकिकानां लोकसंबंधिनां महापुरुषद्वारा अभगवत्च्छरणागतानाम्, अत एव केवलसंसारासक्तानां कीर्तनं न तथेत्यर्थः।

अब यह शंका होती है कि, कीर्तन तो सुखसाधन है ही, फिर इसमें महापुरुषों की कृपा का आग्रह क्यों किया जा रहा है ? जिस किसी भी प्रकार से कीर्तन कर लिया जाय, सुखकारी तो वह होगा ही ? ऐसा प्रश्न होने पर आपश्री अग्रिमश्लोक में **महतां कृपया** इत्यादि शब्दों से निराकरण कर रहे हैं।

आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, लोक में विलक्षण भगवत्संबंधी महापुरुषों की कृपा/करुणा द्वारा अर्थात् उन महापुरुषों की निस्वार्थभाव से दूसरों का दुःख दूर करने की इच्छा से सदा अर्थात् काल से बाधित न होने वाला कीर्तन जिस प्रकार से सुखदायी बनता है अर्थात् तीन प्रकार के तापों की निवृत्तिपूर्वक परमानंद देने वाला यह निरोध को उत्पन्न करने वाला बनता है, वैसा लोक से संबंधित और महापुरुष द्वारा भगवान् के शरणागत न हुए और इसी कारण केवल संसार में आसक्त हुए जीवों द्वारा प्राप्त किया गया कीर्तन उस प्रकार से सुखदायी नहीं होता है।

वैलक्षण्यं वक्तुं लौकिकं दृष्टांतमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति। स्निग्धञ्च तद्भोजनञ्च, स्निग्धभोजनम्, तच्च रूक्षं च, अर्थात् रूक्षभोजनम्, तयोरिव तद्वदित्यर्थः। तथा च स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतदविशिष्टकीर्तनयोरपीत्यर्थः। एतेन स्निग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य पुष्टिफलसाधकत्वम्, रूक्षस्य तदसाधकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्फलासाधकत्वमुक्तमितिभावः। स्निग्धस्य घृतप्लुतस्यान्नादेर्भोजने रूक्षः प्रीतिरहितस्तस्य भोजनमिवेत्यर्थः। यथा कस्यचित् ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलं, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः।

महापुरुषों की कृपा की विलक्षणता बताने के लिये आपश्री **स्निग्धभोजनरूक्षवत्** इत्यादि शब्दों से एक लौकिक दृष्टांत दे रहे हैं। यहाँ "भोजन" शब्द "स्निग्ध" एवं "रूक्ष" दोनों पदों के संग जुड़ेगा अर्थात् स्निग्धभोजन एवं रूक्षभोजन - इस प्रकार से जुड़ेगा। सो दृष्टांत यह हुआ कि, स्निग्धभोजन एवं रूक्षभोजन में जो अंतर है, वही अंतर महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होने वाले कीर्तन एवं लौकिकों के द्वारा प्राप्त होने वाले कीर्तन में है, यह अर्थ है। जैसे स्निग्धभोजन शरीर को पुष्ट करता है, वैसे महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त किया गया कीर्तन पुष्टिफल को सिद्ध करता है। और जैसे रूक्षभोजन शरीर को पुष्ट नहीं करता, वैसे ही लौकिककीर्तन पुष्टिफल को सिद्ध नहीं करता- यह भाव है। ये समझें कि, घी-दूध-मालदार भोजन में जिस व्यक्ति को प्रीति नहीं

होती उस रूक्ष, प्रीतिरहित व्यक्ति के रूक्षभोजन की भाँति लौकिकों का कीर्तन रूक्ष होता है, उन्हें पुष्टिमार्गीय कीर्तन रुचिकर नहीं लगता। जैसे किसी ज्वरग्रस्त व्यक्ति को स्निग्धभोजन रुचिकर नहीं लगता और उस भोजन का स्वाद नहीं ले पाने के कारण वह केवल रूक्षभोजन का ही स्वाद जानता है, जिससे उसका शरीर प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है क्योंकि रूक्षभोजन शरीर को पुष्ट नहीं करता ; ठीक वैसे ही महापुरुषों की कृपा के अभावरूप दोष से युक्त जीवों को अर्थात् पुष्टिभक्त/महापुरुषों के कीर्तन में रूक्ष और प्रीति न रखनेवाले लौकिकजनों का कीर्तन पुष्टिफल नहीं देता, यह भाव है।

यद्वा, स्निग्धं भोजनं यस्य स चार्थात् तद्रूक्षश्च तयोरिव तद्वदित्यर्थः। तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकर्त्रोरपीत्यर्थः ॥ ५॥

अथवा, इसे यों समझें कि - जिस व्यक्ति का भोजन स्निग्ध है, उस व्यक्ति का नाम है "स्निग्धभोजन"। और, जिस व्यक्ति का भोजन रूक्ष है, उस व्यक्ति का नाम है - "रूक्षभोजन"। इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह समझना चाहिए कि जो अंतर स्निग्धभोजन करने वाले एवं रूक्षभोजन करने वाले में है, वही अंतर अलौकिक कीर्तन करने वाले एवं लौकिक कीर्तन करने वाले में भी है - यह अर्थ है ॥ ५॥

ननु सुखसिद्ध्यै दयापर्यन्तं कीर्तनं कर्तव्यत्वेन निरूपितम् , तत्र "तरति शोकमात्मवित्" , "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती"त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानावस्थयैव स्थेयम् , किं गुणगानेन इति चेत् , तत्राहुः गुणगान इति।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥ ६॥

यथा गोविंदस्य गोगोकुलपतेर्निःसाधनाधिपस्य गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या कथने शुकादीनां सिद्धज्ञानफलानामपि सुखम् , तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये जायमानं ब्रह्मात्मैकबोधेन सुखं न तथेत्यर्थः। यद्वा, यथा भक्तैः क्रियमाणे गुणगाने तच्छ्रवणेन गोविंदस्य प्रभोः सुखावाप्ति"र्मद्भक्ता यत्र गायन्ती"तिवाक्यात् तथा तत्कर्तृणामपि शुकादीनां आत्मनि अन्तःकरणे नेत्यर्थः।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, चलो आपने यह निरूपण किया कि भगवान् की दया होने तक सुखसिद्धि के लिये कर्तव्यरूप से कीर्तन करना है, परंतु "तरति","ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती" इत्यादि श्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान से ही दुःखनिवृत्ति होकर सुखप्राप्ति होती है अतः ज्ञानमार्ग का अनुसरण करके ही रहना चाहिए, गुणगान करने से क्या लाभ ? इस शंका निवारण आपश्री अग्रिमश्लोक में **गुणगान** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, जिस प्रकार गोविंद के अर्थात् गो-गोकुलपति-निःसाधनों के अधिपति के गुणों का गान करने में अर्थात् भगवान् की स्तुति करने के उद्देश्य से किये गये कथन में जैसा सुख ज्ञानफल को सिद्ध करने वाले शुकदेवजी इत्यादि को मिला, वैसा सुख उन्हें अपनी आत्मा में उत्पन्न हुए ब्रह्म से अपनी आत्मा के एकाकार होने के सुख में भी नहीं मिला। अथवा इस पूरे श्लोक का अर्थ इस प्रकार से कर लें कि "जहाँ मेरे भक्त मेरा गुणगान करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ" इस वाक्यानुसार अपने भक्तों द्वारा अपना गुणगान सुनकर गोविंद प्रभु को जैसा सुख मिला, वैसा सुख तो खुद कीर्तन करने वाले शुकदेवजी जैसों के अंतःकरण में भी न मिला, यह अर्थ है।

तथा च प्रभोरतिशयिततोषहेतुतया ज्ञानमार्गस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्थातव्यमिति भावः। अत एव "लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्", "परस्परं तद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः", "अथ ह वाव तव महिमामृत", "यदनुचरित", "तव कथामृतम्", "श्रवणाद्दर्शनात्", "येऽन्योन्यतो भागवता" इत्यादि वाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्योक्त्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य। इतोपि तदेव कर्तव्यं इति भावः।

अतः भगवद्गुणगान प्रभु को अति प्रसन्न करता है एवं ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने की अपेक्षा इस गुणगान की प्रक्रिया में सुख अधिक है, सो भगवद्गुणगान करते हुए ही रहना चाहिए, यह भाव है। इसी कारण "हे प्रभु ! आपके भक्त परस्पर आपके गुणगानरूप मादक सुधा का ही पान करके अपनी क्षुधा-पिपासादि देह धर्मों को शांत करते रहते हैं(श्री० भा० ३-२१-१७)", "आप ही सबके स्वामी हैं और संपूर्ण जगत् के कारण ब्रह्मा, प्रकृति आदि के भी कारण हैं। आपकी अमृतमयी महिमा रस का अनंत

सागर है। जिसका एक बार भी रस चख लेने से हृदय में निरंतर परमानंद की धारा बहने लगती है(श्री० भा० ६-९-३९)", "श्रीकृष्ण की लीलारूप कर्णामृत के एक कण का भी जो रसास्वादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं(श्री० भा० १०-४७-१८)", " हे प्रभु ! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है। विरहदशा में तो वही जीवन है(श्री० भा० १०-३१-९)", "हे गोपियों ! मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, मेरे कीर्तन, मेरे ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्यप्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति मेरे पास रहने से भी नहीं होती(श्री० भा० १०-२९-२७)", "मेरी चरणसेवा में प्रीति रखने वाले मेरे भक्त आपस में ही प्रेमपूर्वक मेरे पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं, वे सायुज्यमोक्ष की भी इच्छा नहीं करते(श्री० भा० ३-२५-३४)" इत्यादि वाक्यों से प्रभु गुणगान में रत रहने वालों को किसी और वस्तु की अपेक्षा भी नहीं होती एवं इससे गुणगान का एक स्वतः पुरुषार्थत्व और सर्वाधिक फलत्व समझ में आता है। इन कारणों से भी गुणगान ही करना चाहिए।

तदेवाहुः कुतोऽन्यत इति। अन्यतः [1]ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा कुत एतत्सुखमित्यर्थः। "ज्ञानेप्रयासमुदपास्य", "निवृत्ततर्षैः", "नैषातिदुःसहे"त्यादिवाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणात्। ननु "तरति शोकमात्मवित्", "तमेव विदित्वातिमृत्युमेती"त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद् ,अत्र वदामः। तस्मा"द्मद्भक्तियुक्तस्ये"त्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु " नैष्कर्म्यमपी"त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्षभक्तिमार्ग एव समीचीनः।

इसी बात को आपश्री आगे **कुतोऽन्यतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **अन्यतः** अर्थात् ज्ञान-आदि, अथवा विषय-आदि में ऐसा सुख कहाँ ? श्रीभागवत में भी "हे प्रभु ! जो लोग ज्ञान के लिये प्रयत्न न करके केवल सत्संग और आपकी लीलाकथा का शरीर-वाणी और मन से श्रवण करते हैं, आप उनके अधीन हो जाते हैं(श्री० भा० १०-१४-३)", "श्रीकृष्ण का गुणानुवाद मुमुक्षुजनों के लिये औषधि है, विषयी लोगों के लिये आह्लादायक है। कौन ऐसा है जो श्रीकृष्ण के गुणानुवाद से विमुख हो सकता है ?(श्री० भा ० १०-१-४)", "मुझे भूख-प्यास बाधित नहीं कर रही है, क्योंकि मैं आपके मुख से भगवान् की सुधामयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ(श्री० भा० १०-१-१३)" इत्यादि वाक्यों से गुणगान की ही महत्ता का निरूपण हुआ है। किंतु यहाँ यह शंका होती हि कि, यदि ऐसा ही है तो फिर "तरति", "परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य मृत्युरूप संसारसागर से पार होता है(श्वेता० ६-१५)", इत्यादि श्रुतियों का क्या होगा, जो आत्मज्ञान की ही महत्ता बता रही हैं ? तो इसका समाधान हम कह रहे हैं। यह समझ लें कि, "जो योगी मेरी भक्ति से युक्त रहता है, उसे ज्ञान-वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती(श्री० भा० ११-२०-३१)" इत्यादि वाक्यों से भक्ति करने वाले को ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती और उल्टे ज्ञानियों को "मोक्ष की प्राप्ति का साधन ज्ञान भी यदि भगवान् की भक्ति से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती(श्री० भा० १-५-१२ ; १२-१२-५२)" इन वाक्यानुसार सर्वथा भक्ति की अपेक्षा होती है अतः ज्ञाननिरपेक्ष भक्तिमार्ग ही उचित है।

तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यैवेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः। श्रुत्यादिषु ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसन्नैव। परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव। [2]वस्तुतस्तु दुःखाभावोऽप्येतदधीन एव। "अनर्थोपशम"मिति वाक्यात्। अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे "एवं सती"त्यारभ्य "स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारीयोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवती"ती निर्णीयत इत्यभ्यधायि॥ ६॥

और ज्ञान भी भक्ति के संग किया जाय, तब ही वह मोक्षरूप अक्षयसुख का साधक बनता है अतः केवल ज्ञानमार्ग मेंरहना छोड़कर केवल भक्ति में ही रहना चाहिए, यह अर्थ है। श्रुति इत्यादि में तो ज्ञान का फल केवल दुःख के अभाव तक ही सीमित बताया गया है और परमानंद की प्राप्ति तो भक्ति द्वारा ही होती है। वास्तव में दुःख का अभावरूपी फल भी "अनर्थों की शांति का साक्षात् साधन केवल भगवान् का भक्तियोग है (श्री० भा० १-७-६)" इस वाक्यानुसार भक्ति के ही अधीन है। अतएव

१. कर्मादिभ्य इति पाठः। २. सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थः। एवं सतीत्यादिग्रंथस्यायमाशयः। ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यत्र श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिरित्युच्यते। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य" इति श्रुत्यन्तरे च ज्ञानादीनां साधनत्वनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वं प्रतिपाद्यते। एवं सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्त्या शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यत इति ब्रह्मविदाप्नोतीतिश्रुत्याशयः। एवं योग्यतासंपत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु तादृशज्ञानवतो जीवस्य स्वीयत्वेन वरणे सति भक्तिभावोत्पत्तावेव भवतीति "नायमात्मे"तिश्रुत्याशय इति भाष्ये एवं सतीत्यादिग्रंथेन निर्णीयते। एवं च ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्त्यभावजनितदुःखं तु नापैति। तस्मात् सर्वात्मना दुःखाभावस्तु भक्त्यैवेत्यत्रार्थे भाष्यमप्यनुकूलमेवेति भावः।

आचार्यचरणों ने आनंदमयाधिकरण में "एवं सति" से लेकर "भगवान् जब जीव को स्वीय मान कर वरण करते हैं, तब उस जीव में रहे हुए भक्तिभाव के कारण उसमें भक्तिरूपी सहकारियोग्यता प्राप्त होती है, जिससे पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है(ब्र० सू० १-१-१२)" इस वाक्य तक कहा है ॥ ६ ॥

ननु कृते गुणगाने किं भवतीत्याशंक्य तत्र प्रवृत्त्यर्थं परिचायकं फलमाहुः क्लिश्यमानानिति।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्मृत्या तत्प्राप्त्यर्थं क्लिश्यमानानुपतपतो जनान् दृष्ट्वा अवलोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वांशपूर्णं सदानन्दं परं ब्रह्म यशोदोत्सङ्गलालितं हृदिस्थं परमव्योम्नि प्रादुर्भूतं बहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः। अत एव व्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय "तन्मनस्का" इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते। तदेवोक्तमाचार्यैः "न हि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्। भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन"मिति।

अब भगवद्गुणगान करने पर क्या होता है, यह प्रश्न होने पर आचार्यचरण जीव को गुणगान की ओर मोड़ने के लिये गुणगान का परिचय देने वाला फल **क्लिश्यमानान्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि भगवद्गुणगान करने पर जब प्रभु के स्वरूप की स्मृति आती है, तब उस स्मृति से प्रभु को प्राप्त करने के लिये अपने क्लिश्यमान-तापयुक्तजीवों को देखकर जब प्रभु जीव की तापक्लेशात्मक परीक्षा करने के पश्चात् कृपायुक्त होंगे, तब उस जीव के हृदयाकाश में विराजे हुए सर्वांशपूर्ण-सदानंद-परब्रह्म-यशोदोत्संगलालित प्रभु बाहर प्रकट हो जाते हैं। अतएव व्रजसीमन्तिनियों के गुणगान द्वारा हृदय में प्रादुर्भूत होकर "गोपियों का रोम-रोम श्रीकृष्ण के गुणगान से कृष्णमय हो गया था, उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं थी(श्री० भा० १०-३०-४४)" इस वाक्यानुसार जब उनमें ऐसा भाव उत्पन्न हुआ, तब कृपा करके भगवान् प्रादुर्भूत हुए - यह कहा गया है। इसी बात को आचार्यचरणों ने "भगवान् किसी के साधनों से प्रसन्न नहीं होते अपितु भक्तों की दीनता ही उनकी प्रसन्नता में एकमात्र साधन है(सुबो० १०-२९-१ ; का० २)" इस कारिका द्वारा कहा है।

सदानन्दहृदिस्थमितिपाठे सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः। अयमाशयः। "रुरुदुः सुस्वर"मित्यादिना गुणगानसमय एवार्तिदैन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र स्वाभिप्रायः प्रभुणैव "मया परोक्षं भजता", "न पारयेह"मित्यादिना आविर्भावित इत्यन्यत्रापि गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वकृपां ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यं इत्यर्थः ॥ ७ ॥

किसी ने "सदानन्द हृदिस्थं" पाठ के स्थान पर "सदानन्दहृदिस्थं" पाठ भी माना है। ऐसे मानने पर इसका अर्थ यों बनेगा कि - भक्त के गुणगान द्वारा सदानन्द-भगवान् के हृदय में स्थित उनका अभिप्राय बाहर प्रकट हो जायेगा। इसका आशय यह है कि "गोपियाँ कृष्ण के विरह में फूट-फूट कर रोनें लगीं(श्री० भा० १०-३२-१)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार जब गोपिकाओं ने रोते-रोते प्रभु का गुणगान किया, तब ही उनका अति दैन्यभाव देखकर प्रभु कृपायुक्त हुए और तब उन्होंने गोपिकाओं के प्रति अपना अभिप्राय "मैं परोक्षरूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ ही छुप गया था(श्री० भा० १०-३२-२१)", "मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। मैं तुम्हारे प्रेम-सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ भी तो नहीं चुका सकता(श्री० बा० १०-३२-२२)" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रकट किया था। अतः जैसे उन्होंने गोपिकाओं के क्लेश को देखकर अपना अभिप्राय प्रकट किया, वैसे अन्य दूसरे भक्तों को भी गुणगान द्वारा क्लेशयुक्त देखकर वे प्रकट होंगे एवं अपनी कृपा का परिचय देंगे; इस आशा से भगवद्गुणगान ही कर्तव्य है - यह अर्थ है ॥ ७ ॥

ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशः सम्पादनीयः, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मनिष्ठतैव सम्पाद्यतामिति चेत् , तत्राहुः सर्वानन्दमयस्यापीति।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥ ८॥

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"तिश्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्राचुर्येण वर्तत इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्याब्रह्मानन्दं न कस्यापि दुर्लभत्वं, "सर्वं मद्भक्तियोगेन" इतिवाक्यादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्दः भगवद्धर्माणां स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपत्वात्। यद्वा, पुष्टिमार्गप्रवेशानुकूलानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्यः स सुतरां दुर्लभः। ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात्। "सुदुर्लभः प्रशांतात्मा कोटिष्वपि महामुन" इतिवाक्यात्।

अब प्रश्न यह होता है कि, क्यों भगवत्कृपा की अपेक्षा करें और क्यों गुणगान के द्वारा क्लेश प्राप्त करें ? इससे अच्छा तो यही है कि ज्ञानमार्ग में निष्ठा रखते हुए ब्रह्म में ही क्यों न स्थित हो जाएँ ?? तो इसके समाधान में आचार्यचरण **सर्वानन्दमयस्यापि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जानना चाहिए कि "एतस्यैव" इस श्रुति के अनुसार यह सिद्ध होता है कि, सर्वत्र स्थित जो आनंद है, वह भगवान् में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है अतः जो जीव उनके आश्रित है, उसके लिये तो मनुष्य के आनंद से आरंभ करके ब्रह्मानंद तक का आनंद दुर्लभ नहीं है, क्योंकि प्रभु ने श्रीमद्भागवत में "मेरे भक्तियोग से सभी कुछ प्राप्त होता है(श्री० भा० ११-२०-३३)" इस प्रकार से कहा है। तथापि भगवान् का कृपानंद अर्थात् कृपारूप आनंद बहुत दुर्लभ है क्योंकि भगवद्-धर्म भगवत्स्वरूप से भिन्न नहीं होने के कारण आनंदरूप हैं। अथवा इस कारिका का अर्थ यों कर लें कि पुष्टिमार्ग में प्रवेश कराने वाली जो भगवान् की अनुग्रहरूपा कृपा है, उसके द्वारा जो आनंद प्राप्त होता है, जो भजनानंद के नाम से जाना जाता है, वह तो ब्रह्मानंद से भी अधिक दुर्लभ है। यह बात "हे महामुने ! करोड़ों मुक्त पुरुषों में भी वैसे शांतचित्त महापुरुष का मिलना तो बहुत कठिन है, जो एकमात्र भगवान् के ही परायण हो(श्री० भा० ६-१४-५)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

भजनानन्दस्तु दुर्लभ एव। सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहाण। अत एव दुर्लभतैव तस्योक्ता श्रीमदाचार्यैः। "लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत्, स्वानन्दस्थापनार्थाय योग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यत" इत्यादि। एतदर्थस्तु तत एव विभाव्यताम्, विस्तरभियात्र न लिख्यते। तथाच यत्रैतादृगनुग्रहस्तत्रैतदधिकारित्वात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसन्धायोक्तं कृपानन्दः सुदुर्लभ इति। श्रीभागवतेपि "नेमं विरिंच्यः", "नायं सुखापः", "क्वेमाः स्त्रियः", "आसामहो" इत्यादिवाक्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च।

भजनानंद तो दुर्लभ ही है परंतु भजनानंद प्राप्त करने का कुछ साधन है क्या ? तो समझ लीजिए कि भगवद्गुणगान ही एकमात्र साधन है और इसी कारण आचार्यचरणों ने इसकी दुर्लभता "भजनानंद सर्वप्रथम लौकिकस्त्रियों अर्थात् गोपिकाओं में भलीभाँति सिद्ध होता है और उनके द्वारा पुरुषों में सिद्ध होता है। अपने आनंद का अनुभव कराने के लिये भगवान् ने उनमें ब्रह्मानंदरूपी योग्यता भी उत्पन्न की। उस योग्यता का संपादन कराने के पश्चात् भगवान् ने गोपिकाओं में भजनानंद स्थापित किया(सुबो० १०-२६-१ ; का०-२)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कही है। इस पंक्ति का विशेष भाव तो आप वहीं सुबोधिनी से ही समझ लें, विस्तारभय से हम यहाँ नहीं लिख रहे हैं। अतः जिस जीव पर प्रभु का ऐसा अनुग्रह होता है, वही इसका अधिकारी बनता है एवं उस कृपानंद को प्राप्त करता है - यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने **कृपानन्दः सुदुर्लभः** यों कहा है। श्रीभागवत में भी "यशोदाजी ने भाव से जो कृपाप्रसाद पाया, वह तो ब्रह्मा, शंकर एवं लक्ष्मीजी भी न पा सके(१-९-२०)", "यह भगवान अपने अनन्यप्रेमी भक्तों के लिये जितने सुलभ हैं, उतने कर्मकांडी एवं तपस्वियों को भी नहीं हैं(१०-९-२१)" , "कहाँ यह वन की गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानंदघन भगवान् !(१०-४७-५९)" , "धन्य हैं ये गोपिकाएँ जिन्होंने अपने परिवारजनों का त्याग करके भगवान् को प्राप्त कर लिया है, जिनको श्रुतियाँ भी प्राप्त नहीं कर पातीं(१०-४७-६१) इत्यादि वाक्यों से इस आनंद की दुर्लभता का निरूपण हुआ है।

कथं दुर्लभ इति आकांक्षायां तन्निरूपकं तत्कार्यमाहुः, हृद्गत इति। हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स कृपानन्दः स्वरूपात्मकः स्वगुणान् गीयमानान् श्रुत्वा पूर्णः प्रतिक्षणं प्रवर्धमानो रसपूररूपः सन् जनान् जननादिधर्मयुक्तानपि प्लावयते स्वाविर्भावितरससिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः। अत एव "बर्हापीडे"तिपद्ये स्वामिनीनां हृदि वेणुपूरितसुधाद्वारा भावात्मकः प्रभुरन्तःप्रविष्टो"ऽक्षण्वता"मित्यादिभिस्तद्वर्णितगुणश्रवणेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु "पूर्णः क्रीड़ामयतामेव सम्पादितवा"नित्यभिहितम्। अत एवोक्तमाचार्यैर्युगलगीते "अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः, पुनर्निविश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिर" इति॥ ८॥

अब यह आनंद दुर्लभ क्यों है ? यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण कृपानंद का कार्य **हृद्गतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **हृद्गतः** का अर्थ है - हृदय में प्रविष्ट हुआ वह भगवत्स्वरूपात्मक कृपानंद अपने भक्त द्वारा गाये गये अपने गुणों को सुनकर प्रतिक्षण रस से पूरित होकर प्रवृद्धमान होते हुए उन लौकिकजीवों को भी अपने आविर्भावित रससिंधु में डुबा देता है, यह अर्थ है। इसी कारण "बर्हापीडं (श्री० भा० १०-२१-५)" इस पद में गोपिकाओं के हृदय में वेणु द्वारा पूरित सुधा द्वारा प्रभु उनके अंतःकरण में प्रविष्ट हुए। इसी कारण युगलगीत में आचार्यचरणों ने "गुणगान द्वारा भगवान् अन्तःप्रविष्ट होते हैं, फिर मुख से निकल कर पुनः कर्णों द्वारा भीतर प्रवेश करते हैं। तब वे शरीर के भीतर सुस्थिर हो जाते हैं (सुबो० १०-३२-१ ; का० २) यह कहा है॥ ८॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति तस्मादिति।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः॥ ९॥

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनामार्गेभ्यो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयो "ये त्विहासक्तमनसः", "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति", "विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः", "पूजादिना ब्रह्मलोक"मित्यादिवाक्यैः तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृतैः अत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं साधनानि विदधद्भिः, सर्वदा निरंतरं "सर्वं मद्भक्तियोगेने"ति वाक्यात् सर्वं ददतीति सर्वदाः सर्वेष्टदातारो गुणा एव गेया इत्यर्थः।

इस प्रकार युक्तिपूर्वक कर्तव्यरूप से निर्देश करके अब आचार्यचरण **तस्माद्** इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि चूँकि कर्म-ज्ञान-उपासना मार्गों की तुलना में भक्तिमार्ग तो अतिशय निजजनों के लिये है और यही बात "जिनका चित्त लोक में आसक्त है, उनकी इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं होतीं और वे लौकिक में रचे-पचे रहते हैं अतः भगवान् से विमुख रहते हैं (श्री० भा० ३-३२-१६)", "वेदों को जानने वाले विद्वान्, अनासक्त महर्षि जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं, उस पद की प्राप्ति का वर्णन मैं करूँगा (भ० गी० ८-११)" इत्यादि श्लोकों द्वारा कही गयी है अतः समस्त कर्म-ज्ञान-उपासना इत्यादि मार्गों का संस्कारसहित त्याग करके भगवान् द्वारा स्वीयरूप से वरण किये गये और इस कारण जिन्हें कुछ प्रपंच की विस्मृति हो गयी है और इसके लिये साधन करने वाले निरुद्धजनों के संग सर्वदा निरंतर भगवान् का गुणगान करना चाहिए। "सर्वदा" शब्द का एक अर्थ "मेरे भक्तियोग से सभी कुछ प्राप्त हो जाता है(श्री० भा० ११-२०-३३)" इस प्रभु के वाक्यानुसार "सभी कुछ देने वाले भगवद्गुणों का नाम "सर्वदा" है" यों इस प्रकार से भी हो सकता है। अतः इस व्युत्पत्ति के द्वारा इस पंक्ति का अर्थ यह हुआ कि भक्त को इष्ट समस्त वस्तुओं को देने वाले "सर्वदा-भगवद्गुण" ही गाने चाहिए।

ननु "वेदमार्गानुसारेणे"तिवाक्यात् तथा भजने क्रियमाणे तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिरन्यथाकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान् गायेदित्याशङ्कायामाहुः सदानन्दपरैरिति।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि "वेदमार्गानुसारेण" इस वाक्यानुसार यदि वेदमार्ग के अनुसार प्रभु का भजन करें तो उस मार्ग की व्याख्या तो व्याख्याकारों ने कई ढंग से की है। अब यह समझ में नहीं आता कि उनमें से किस पक्ष का अवलंबन करके भगवद्गुणगान किया जाय ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण **सदानन्दपरैः** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

सदानन्दः साकारानन्दमयः परः परमात्मा परमकाष्ठापन्नो, न तु पुच्छादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः। [1]अधिकारिविशेषणमेतत्। अनेन मायावादादिमतमनादृत्य ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्। ब्रह्मवादे एवानन्दमयस्यानन्दमयाधिक-

१. विधेयविशेषणमिति पाठः।

रणे परमकाष्ठापन्नत्वोक्तेः।

सदानन्दपरैः शब्द का अर्थ समझें। सदानन्द > साकार आनंदमय। परः > **परमकाष्ठापन्न परमात्मा, अर्थात् ज्ञानमार्गीयों** के पुच्छादि भाव वाला **अक्षरब्रह्म नहीं**। उपनिषद् में ब्रह्म को एक पक्षी के रूप में बताया गया है। उस पक्षी की पूँछ को अक्षरब्रह्म के रूप में बताया गया है। टीकाकार कहते हैं कि ऐसे पुच्छादि भाव वाले अक्षरब्रह्म में ही जिनकी निष्ठा है, उनके संग गुणगान न करके पुरुषोत्तम में निष्ठ भक्तों के संग गुणगान करना चाहिए। विशेष जानने के लिये देखें - तैत्ति०उप०- द्वितीय वल्ली। ऐसे सदानन्द जिनके भगवान् हैं, उन तादृशीजनों के संग प्रभु-गुणगान करना चाहिए। आपश्री ने "सदानन्दपर" शब्द से प्रभु का गुणगान करने के अधिकारी कौन हैं, यह बताया है। इस वाक्य से यह सिद्ध हुआ कि आपश्री मायावाद-आदि के मतों को छोड़कर ब्रह्मवाद में स्थित होकर गुणगान करना बता रहे हैं। क्योंकि ब्रह्मवाद में ही आनंदमयाधिकरण में आनंदमय प्रभु को परमकाष्ठापन्न बताया गया है।

ततः किं भवतीत्याशङ्कायामाहुः सच्चिदानन्दता तत इति। ततस्तेभ्यः एव गीयमानेभ्यो गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावेनाक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः। स्वत इतिपाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः॥ ९॥

इस प्रकार ऐसे प्रभु का गुणगान करने से क्या होगा, यह आपश्री **सच्चिदनंदता ततः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऐसा करने से उन्हीं गीयमान गुणों के द्वारा जीव में सच्चिदानंदता आ जायेगी अर्थात् सत्-चित् और आनंद ये तीन गुणों का उसमें आविर्भाव हो जाने पर वह अक्षररूप बन जायेगा, जिससे उसमें पुरुषोत्तम के आविर्भाव की योग्यता आ जायेगी - यह अर्थ है। और यदि "ततः" के स्थान पर "स्वतः" पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह होगा कि - गुणगान करने पर स्वतः ही सच्चिदानंदता प्राप्त हो जाती है, गुणगान का अपना स्वभाव ही ऐसा है कि फिर इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रहती॥ ९॥

एवं निरोधार्थं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिन एव भवितुं युक्ता इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्यनिरोधविवृतिकर्तृत्वमितिवदन्तः फलाव्यभिचारितासिद्ध्यै स्वेषामर्थे प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वानुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं दृढयन्ति अहं निरुद्ध इति।

इस प्रकार से यहाँ तक हमने यह बात समझी कि निरोध प्राप्त करने के लिये गाये जाने वाले भगवान् के गुण भी निरोधलक्षण वाली भगवान् की लीला से ही संबंधित होने युक्त हैं, अतः निरोध का स्वरूप बताने के लिये खुद आचार्यचरणों ने इस निरोध की विवृति की है, यह कहते हुए आपश्री निरोधमार्गीयों को ही ऊपर कहे समस्त भगवत्संबंधी फल प्राप्त हों, इसकी सिद्धि के लिये अपने निजजनों के लिये प्रभु से निरोध की प्रार्थना जैसी करते हुए अपना अनुभव कह कर इसमें उनकी प्रवृत्ति को दृढ़ कर रहे हैं। इसे आपश्री अग्रिमश्लोक में **अहं निरुद्धः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥ १०॥

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिबध्नाति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीलानुसन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्फूर्तिरूप आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन निरुद्धः प्रपंचविस्मृत्या तदासक्तौ, निरोधस्य पदवीं श्रुतिविमृग्यां स्वतंत्रभक्तिरूपां गतः प्राप्त इत्यर्थः। ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति। निरुद्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः।

उपर्युक्त श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं कि - जो वस्तु भगवान् के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं को रोक दे, प्रतिबंधित कर दे, वह "रोध" है। यह रोध भगवान् की निरोधलीला का अनुसंधान करने से उत्पन्न हुआ, सर्वत्र सभी में बाधकता की स्फूर्ति कराने वाला, आसक्ति धर्म वाला एक विशेषभाव है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, मैं ऐसे रोध से निरुद्ध हुआ हूँ अर्थात् प्रपंचविस्मृति के द्वारा भगवान् में आसक्त हुआ हूँ और निरोध की पदवी को प्राप्त हुआ हूँ। वह पदवी जिसे श्रुति भी ढूँढ रही है और जो स्वयं स्वतंत्रभक्तिरूपा है, उसको प्राप्त हुआ हूँ। परंतु पूर्वपक्षी को एक प्रश्न यह होता है कि यदि आचार्यचरण स्वयं निरुद्ध होकर ऐसी पदवी को प्राप्त हो चुके हैं, तो फिर उन्हें इस प्रकार निरोधवर्णन का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका

का समाधान आपश्री के **निरुद्धानां तु** इत्यादि शब्दों से मिलता है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि मैं निरुद्धों के लिये निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। ये निरुद्धजीव वैसे प्रकार से निरुद्ध नहीं हैं, जिस प्रकार से आचार्यचरण हैं - यह बताने के लिये आपश्री ने यहाँ "तु" शब्द का प्रयोग किया है।

भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयबलेन वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेषसिद्ध्यर्थं निरोधं लीलारूपं भक्तेषु भगवत्कृतं वर्णयामीत्यर्थः। वर्तमानक्रियापदात् स्वस्व सर्वदैतदभिनिवेशः सूचितः। अत एवा"तिकरुण" प्रभुभिः श्रीवल्लभाष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम्। स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इवाहुः त इति। त्वत्सम्बन्धिना तेषां त्वत्सम्बन्धिनं निरोधं वा। अत उभयथापि तवैवायं भार इति भावः॥ १०॥

आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, मेरा तो भगवान् ने साक्षात् रूप से निरोध किया है परंतु अन्यों को शास्त्रानुसार किसी महापुरुष द्वारा अथवा तो कृपाबल से आत्मसात किया है, उनके रोध के लिये मैं निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। वह रोध जो निरोध को उत्पन्न करने वाला, आसक्ति धर्म वाला एक विशेषभाव है, उस रोध की सिद्धि के लिये भगवान् ने जो भक्तों के अंतर्गत लीला की, उस लीलारूप निरोध का मैं वर्णन कर रहा हूँ - यह अर्थ है। यहाँ "वर्णयामि" पद में वर्तमानक्रिया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि, आचार्यचरण सर्वदा इसी प्रकार जीव को कृतार्थ बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं। और इसी कारण प्रभुचरणों ने श्रीवल्लभाष्टक में आचार्यचरणों के लिये "अतिकरुण(१)" यह विशेषण दिया है। अपने निजजीवों के लिये भगवान् से प्रार्थना जैसी करते हुए आपश्री भगवान् को "ते" शब्द से कह रहे हैं। "ते" अर्थात् आचार्यचरण कह रहे हैं - हे प्रभु ! तेरे संबंधित जीवों के लिये मैं निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। अथवा यों अर्थ करें कि - हे प्रभु ! **तुझसे** संबंधित निरोध का मैं वर्णन कर रह हूँ। अतः दोनों ही ढंग से उन जीवों को निरोध सिद्ध कराने का उत्तरदायित्व तो हे भगवान् तुझ पर ही है- यह भाव है॥ १०॥

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव हेतुत्वेनाहुः हरिणेति।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां मुक्ताः सर्वथा त्यक्ताः। उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां प्राप्त्यभावाय। निर्बंधाया"सुरीमते"ति प्रयोजनाभिधानात्। "मामप्राप्यैवे"ति शिरश्चालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित् तत्सम्बन्धे सति प्राप्तिस्तु प्रमेयबलेनेतिदिक्। अत एव व्यासोपि श्रीभागवते "विनापद्मशु"दित्युक्तवान्।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवद्गुणगान में यदि इतने ही गुण हैं, तो फिर सभी जीव इस ओर प्रवृत्त क्यों नहीं होते ? तो इसमें उनके दुर्भाग्य को ही कारण बताते हुए आचार्यचरण **हरिणा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण **ये** इत्यादि शब्दों से उन लोगों की ओर संकेत कर रहे हैं, जो भाग्यरहित हैं क्योंकि समस्त दुःखों का हरण करने वाले भगवान्-हरि ने भी जिन्हें विशेषरूप से छोड़ दिया है, सर्वथा त्याग कर दिया है। **विनिर्मुक्ता** शब्द में प्रयुक्त होने वाले "वि" और "नि" यह दो उपसर्ग इस बात को बताते हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार से भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि "दैवीजीव मोक्ष के लिये एवं आसुरीजीव बंधन के लिये हैं (भ०गी० १६-५)" इस प्रकार से भगवान् ने आसुरीसृष्टि की रचना करने का प्रयोजन कहा है। इसी प्रकार "आसुरीयोनि को प्राप्त हुए मूढ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझको प्राप्त न होकर अधमगति को प्राप्त होते हैं(भ० गी १६-२०)" इस वाक्य द्वारा यदि यह अर्थ किया जाय कि, भगवान् ऐसे जीवों के लिये अस्वीकृतिपूर्वक मस्तक हिलाते हुए इन्कार कर रहे हैं, तो तात्पर्य यह निकाला जाना चाहिए कि ऐसे जीवों का यदि जैसे-तैसे प्रभु से संबंध हो भी जाय, तथापि उन्हें भगवत्प्राप्ति तो भगवत्कृपा से ही होगी, अन्यथा नहीं। इसी कारण व्यासमुनि ने भी श्रीभागवत में ऐसे जीवों के लिये "विना"... यह कहा है।

ननु तेषां किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः ते मग्ना इति। ते आसुराः कर्मिणो दैवा अपि भवः जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः सर्वानुसन्धानरहिता इत्यर्थः। तस्य सागरत्वं नक्रादिगिलनसम्भावनया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः, एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम्।

अब प्रश्न यह होता है कि, तब ऐसे भगवान् द्वारा त्यागे गये जीवों का क्या होगा ? तो आपश्री उनकी परिस्थिति **ते मग्ना** इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। ते का अर्थ है - वे आसुरी ; और दैवीजीव भी, जो कर्ममार्ग में प्रवृत्त हो गये हैं, भवसागर में अर्थात् जन्ममरण के प्रवाहरूपी सागर में डूबे रहते हैं, उन्हें किसी भी वस्तु का अनुसंधान नहीं रहता, वे- यह अर्थ है। इस भवप्रवाह को सागर इसलिये बताया गया कि, जैसे सागर में डूब जाने वाले को तो फिर मगर इत्यादि जलजीवों द्वारा निगले जाने की संभावना बनी ही रहती है, एक बार डूब जाने के पश्चात् फिर उनका वहाँ से निकलना असंभव है। इसी प्रकार यहाँ भी जब भगवान् जीव का त्याग कर देते हैं, तब वह संसारसागर में काम-कोधरूपी मगरमच्छों का ग्रास बन जाता है और उसका पुनः मोक्षमार्ग में प्रवेश असंभव हो जाता है। इस भाव को बताने के लिये आचार्यचरणों ने संसार की तुलना सागर से की है।

निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः ये निरुद्धा इति। भगवता ये निरुद्धा महापुरुषद्वारा स्वतो वा आत्मसात्कृतास्त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दमासमन्ताद् यान्ति प्राप्नुवन्ति। एवकारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम्। तेषां गुणेष्वरुचेः। तद्रुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव। अत एव नलकूबरमणिग्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव "वाणी गुणानुकथन" इत्यादि निरूपितम्। उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे। "तदर्थित्वस्यैव वरणकार्यत्वा"दिति।

अब निरुद्धजीवों के विषय में आपश्री **ये निरुद्धाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि जो निरुद्ध हैं अर्थात् जिन्हें भगवान् ने किसी महापुरुष द्वारा अथवा तो स्वयं आत्मसात किया है, वे ही यहाँ गुणगान में चहुँ ओर से आनंद प्राप्त करते हैं। और "एव" शब्द से ज्ञात होता है कि अन्य दूसरे जो निरुद्ध नहीं हैं, उन्हें यह आनंद प्राप्त होना असंभव है। क्योंकि उनकी भगवद्गुणानुवाद में रुचि ही नहीं है। क्योंकि भगवद्गुणानुवाद में रुचि भी तो भगवत्कृपा से ही होती है। इसी कारण नलकूबर-मणिग्रीव पर भगवद्-अनुग्रह होने के पश्चात् ही उन्होंने " हे प्रभु ! हमारी वाणी आपके मंगलमय गुणों का वर्णन करती रहे (श्री० भा० १०-१०-३८)" इस वाक्य द्वारा गुणगान में अपनी रुचि प्रकट की। यही बात हमारे प्रभुचरणों ने भी भक्तिहंस में "पुरुषोत्तम की चाहना करने वाले का ही प्रभु वरण करते हैं" इस वाक्य द्वारा कही है।

अहर्निशमिति। न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम्। "मद्वार्तायातयामाना"मितिवाक्यात्। यामामात्रमप्येतद्वार्तापरत्वे गृहादेरबन्धकत्वमित्यहर्निशं तथात्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः॥ ११॥

अब हम **अहर्निश** का अर्थ कर रहे हैं। आपश्री इस श्लोक में आज्ञा करते हैं कि निरुद्धजीव अहर्निश आनंद प्राप्त करते रहते हैं अर्थात् उनको क्षणमात्र के लिये भी सांसारिक दुःख नहीं होता, यह कहना चाह रहे हैं। इस बात को "जिनका सारा समय मेरी कथावार्ताओं में बीतता है, वे यदि गृह में भी रहें, तो भी घर उनके बंधन का कारण नहीं बनते(श्री० भा० ४-३०-१९)" इस वाक्य द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। जब एक प्रहर भी भगवत्वार्ता में रत हो जाने से उसे गृहादि का बंधन नहीं होता, तो यदि अहर्निश वह भगवद्-आनंद में डूबा रहे तो फिर कहना ही क्या ? ॥ ११॥

ननु गुणगानं निरोधसाधकतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुख्ये न सम्भवतीति तन्निवर्तकमुपायमाहुः संसारावेशदुष्टानामिति।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ १२॥

संसारस्य अहन्ताममतात्मकस्य प्रपञ्चासक्तिसम्पादकस्य य आवेश आसमन्तादिन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां भगवद्वैमुख्यरूपदोषयुक्तानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां हिताय भगवत्परतया हितं कर्तुं सर्ववस्तूनि दारागारपुत्रादीनि कृष्णस्य सदानन्दस्य योजयेत् युक्तं कुर्यादित्यर्थः।

ठीक है, निरोध का साधक होने के कारण गुणगान को कर्तव्यरूप से आचार्यचरणों ने कह दिया परंतु यदि इन्द्रियाँ विमुख हों तो गुणगान संभव नहीं होता अतः उन इन्द्रियों की भगवान् से विमुखता को दूर करने का उपाय आपश्री **संसारावेशदुष्टानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अहंताममतारूप प्रपंच की ओर आसक्त कराने वाला संसार का जो आवेश होता है, वह चहुँ ओर से इन्द्रियों में प्रविष्ट हो जाता है अतः इससे भगवद्-विमुखतारूपी दोष से ग्रस्त हुई चक्षु-आदि इन्द्रियों को भगवत्पर बना कर उनका हित करने के लिये

दारागार-पुत्र आदि समस्त वस्तुओं को सदानंद-श्रीकृष्ण में जोड़ देनी चाहिए, यह अर्थ है।

कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति सप्तम्यर्थे षष्ठी। ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य आहुः ईशस्येति। स हि समर्थ आधिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्येन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे किमाश्चर्यमिति भावः।

व्याकरण के नियमानुसार जब किन्हीं दो वस्तुओं में संबंध होना दिखाना हो या अपेक्षित हो, तो वहाँ षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे कि यहाँ "कृष्णस्य" पद में षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग किया गया है। वैसे आचार्यचरणों को बात यह कहनी है कि "समस्त वस्तुओं को कृष्ण में जोड़ देनी चाहिए" अतः इस भाव को ध्यान में रखते हुए "कृष्ण " पद में षष्ठी का प्रयोग न करके आपश्री को "कृष्णे" यों सप्तमीविभक्ति का प्रयोग करना चाहिए था। किंतु यहाँ उन्हें जीव की समस्त इन्द्रियाँ एवं उनके कर्मों का संबंध कृष्ण से करने का भाव बताना है, और संबंध-अर्थ में व्याकरण के नियमानुसार षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होता है अतः आपश्री ने उस संबंध के भाव को दृष्टि में रखते हुए और उस पर विशेष भार डालने के लिये सप्तमी का प्रयोग न करके षष्ठी का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि "कृष्णे" न कह कर "कृष्णस्य" कहा है। अतः यहाँ सप्तमी के अर्थ में ही षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग है, यह जानना चाहिए। इसी बात को टीकाकार आगे के एक वाक्य में कह रहे हैं। व्याकरण के अनुसार कर्म-इत्यादि का संबंध बताना हो तो षष्ठीविभक्ति का ही प्रयोग होता है, और यहाँ आचार्यचरणों को इन्द्रिय एवं उनके कर्मों का संबंध कृष्ण से बताना है अतः आपश्री ने कृष्ण शब्द में षष्ठीविभक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ वैसे सप्तमी के अर्थ में षष्ठीविभक्ति का प्रयोग है, यह समझ लेना चाहिए। अब इसके पश्चात् यहाँ शंका यह होती है कि कृष्ण में समस्त वस्तुओं का समर्पण कर देने से इन्द्रियों की दोषनिवृत्ति कैसे हो जायेगी ? इसके समाधान में आपश्री **ईशस्य** शब्द से कह रहे हैं। समाधान यह है कि भगवान् ईश्वर हैं अर्थात् वह समर्थ हैं। जब वह जीव में आधिदैविकता का भी संपादन कर सकते हैं तो उसकी इन्द्रियों के दोष दूर कर देने में कैसा आश्चर्य ? यह भाव है।

यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो विमुखान्येव, "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूरि"ति श्रुतेः, तेषां हिताय कृष्णस्य भगवतः सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह योजयेदित्यर्थः। एतदे"वाक्षण्वता"मित्यस्य विवरणे "भगवता सह संलाप" इत्यादिना निरूपितमिति तत एव विभावनीयम्।

अथवा, यहाँ यह समझें कि जीव की इन्द्रियाँ तो "परमात्मा ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाये हैं अतः वह बाहर की ओर ही देखता है(कठो० २-१-१)" इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार स्वयं ही भगवान् से विमुख हैं अतः उनका हित करने के लिये भगवान् कृष्ण की संबंधी, लीलासृष्टि की समस्त वस्तुओं की अर्थात् भगवान् से संबंधित भगवत्स्वरूप, भगवद्-लीला, भगवत्क्रिया इन समस्त वस्तुओं की भावना करते हुए उन्हें अपनी इन्द्रियों के संग जोड़ देना चाहिए अर्थात् भगवत्स्वरूप को नेत्र के साथ, भगवद्-नाद के साथ कर्णों को, भगवत्प्रसाद के संग जिव्हा इत्यादि को जोड़ देना चाहिए, यह अर्थ है। यही बात "अक्षण्वतां(श्री० भा० १०-२१-७)" इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने "भगवता सह संलापः(सुबो० १०-१८-७ ; का० ८)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कही है, अतः विस्तारपूर्वक वहीं से देख लें।

नन्वीशत्वेपि सर्वत्रेन्द्रियादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशंक्याहुः भूम्न इति। भूमा सर्व व्यापकोऽतो ये यथा भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बद्धो भविष्यतीत्यर्थः। यद्वा, भूम्न इति तादर्थ्ये चतुर्थी। तथा च "भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती"ति तार्तीयीकाधिकरणनिरूपितभूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः। तत्राधिकरणे "यो वै भूमा तत्सुख"मित्युक्त्वा भूमस्वरूपजिज्ञासायां "यत्र नान्यत्पश्यती"त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम्॥ १२॥

परंतु पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि, भले ही भगवान् ईश्वर हैं तथापि जब तक उनका समस्त इन्द्रियों के साथ संबंध न हो जाय, तब तक इन्द्रियों के दोष कैसे दूर होंगे ? तो इसका समाधान आपश्री **भूम्नः** शब्द से दे रहे हैं। "भूमा" शब्द भगवान् का वाचक है और इसका अर्थ है - सर्वव्यापक। अतः जो जीव उनके प्रति जैसा भाव करेंगे, वह वैसे उस प्रकार से प्रकट होकर जीव से जुड़ जाते हैं। अथवा भूम्न शब्द में तादर्थ्ये चतुर्थी मान लें। टीकाकार यहाँ एक दूसरे प्रकार से "भूमा" शब्द में तादर्थ्ये-चतुर्थीविभक्ति भी मान रहे हैं। "भूमा" शब्द तादर्थ्ये-चतुर्थी करने के पश्चात् "भूम्ने" यों इस प्रकार से बनेगा, जिसका अर्थ होगा -

"भूमा के लिये"। आगे वे यह भी बता रहे हैं कि ब्रह्मसूत्र में भूमा का अर्थ किया गया है - सर्वात्मभाव। अतः अर्थ हुआ - भूमा के लिये यानि सर्वात्मभाव के लिये। अब भूमा शब्द के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए पूरे श्लोक का अर्थ करें। इसके पूर्व में टीकाकार ने जिस प्रकार से अर्थ किया था, वह भी ध्यान में रखें और अब एक साथ अर्थ करें। ऐसे में पूरे श्लोक का अर्थ बनेगा - "संसारावेश से दुष्ट हो चुकी इन्द्रियों का हित करने के लिये अर्थात् सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिये उन्हें ईश्वर-कृष्ण से संबंधित समस्त वस्तुओं में जोड़ देनी चाहिए। इसी अर्थ को टीकाकार आगे समझा रहे हैं। ऐसे में अर्थ यह बनेगा कि ब्रह्मसूत्र के तृतीय-अधिकरण में "यज्ञ की भाँति भूमा की श्रेष्ठता है क्योंकि श्रुति भी यही दिखलाती है(ब्र० सू० ३-३-५७)" इस वाक्य में "भूमा" शब्द से कहे जाने वाले "सर्वात्मभाव" का फल प्राप्त करने के लिये समस्त वस्तुओं का समर्पण भगवान् श्रीकृष्ण में करना चाहिए। वहाँ ब्रह्मसूत्र के अधिकरण में "यो वै भूमा....पश्यतीत्यादिना" इस वाक्य के द्वारा आचार्यचरणों ने भूमा शब्द का अर्थ सर्वात्मभाव ही किया है॥ १२॥

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुणगाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकांक्षायामाहुः गुणेष्वाविष्टचित्तानामिति।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १३॥
तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा सर्वदा अव्यवधानेनाविष्टचित्तानामन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां "तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही"त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेष्वहंताममतारूपः विरहक्लेशो भगवद्विरहेणक्लेशश्च तावुभौ न स्यातामित्यर्थः। "श्रृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते। क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते", "परस्परं त्वद्गुणवादः", "ये योन्यतो भागवताः", "तव कथामृत"मित्यादिवाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहक्लेशाभावोक्तेः। अन्यथा सर्वपरित्यागो वियोगे जीवनं च न सम्भवेत्।

अब शंका यह होती है कि, भगवान् जब दया करेंगे, वह समय आने तक आपने महापुरुषों की कृपा द्वारा भगवद्गुणगान करना कह तो दिया, परंतु गुणगान करने के पश्चात् भगवान् दया करेंगे कब ? यह नहीं बताया। तो वह दया कब करेंगे, इस बात को आचार्यचारण **गुणेष्वाविष्टचित्तानां** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

आपश्री कह रहे हैं कि, भगवान् के ऐश्वर्यादि या सौंदर्यादि गुणों में सर्वदा अर्थात् व्यवधानरहित होकर और अन्यों के अनुसंधान से रहित अंतःकरण वालों को "संसार" एवं "विरहक्लेश" ये दोनों बाधा नहीं करते। आचार्यचरणों के "भगवद्गुणों में प्रसक्त होने वालों को ही भगवान् में आसक्ति होती है(सुबो० १०-१८,का०-२)" इस वाक्यानुसार भगवान् के प्रति निरंतर बढ़ती हुई आसक्ति के द्वारा "संसार" अर्थात् लौकिक में अहंता-ममता एवं "विरहक्लेश" अर्थात् भगवद्विरह से होने वाला क्लेश ; यह दोनों उसे नहीं होते- यह अर्थ है। क्योंकि "जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है, उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्र में आना नहीं पड़ता(श्री० भा० १०-२-३७)" , "आपके भक्त परस्पर आपके गुणगानरूप सुधा का ही पान करके क्षुधा-पिपासा आदि देहधर्मों को शांत करते रहते हैं(श्री० भा० ३-२१-१७)" , "मेरी चरणसेवा में प्रीति रखने वाले एकदूसरे से मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं और सायुज्यमोक्ष की भी इच्छा नहीं रखते(श्री० भा० ३-२५-३४)" , "हे प्रभु ! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है, वह सारे पाप-ताप मिटाती है , वह जीवन सर्वस्व है(श्री० भा० १०-३१-९) " इत्यादि वाक्यों के द्वारा भगवद्गुणों में आविष्टचित्त वालों को संसार और विरहक्लेश नहीं होता, यह कहा गया है। यदि गुणगान से संसार और विरहक्लेश दूर न होते हों, तो सर्वपरित्याग करेंगे कैसे एवं वियोग में जियेंगे ही कैसे ? संसार की अनुभूति रहने तक सर्वपरित्याग करना संभव नहीं है एवं विरहक्लेश के रहने पर जीवन जीना भी संभव नहीं है।

निरोधलक्षणम्।

यद्वा, संसारस्तेन च यो विरहक्लेशो अभिलषितविनाशो तौ न स्यातामित्यर्थः। अत एवोक्तं श्रीभागवते "तस्मिन्महन्मुखरिता" इत्यारभ्य "तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहा" इत्यन्तम्। अथवा संसारो भगवत्यहंतामतारूपस्तस्य विरहेणाभावेन यौ क्लेशौ अन्यसम्बन्धप्रभ्वसम्बन्धजन्यौ तौ न स्यातामित्यर्थः। गुणाविष्टचित्तत्वे सर्वथा भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धाभावाच्च।

अथवा तो इसका अर्थ ऐसे करें कि - एक "संसार" और दूसरा उस संसार से उत्पन्न होने वाला "विरहक्लेश" जो मनोवांछित वस्तु न मिलने पर होता है ; ये दो वस्तुएँ भगवद्गुणगान करने वाले को बाधा नहीं करेंगी, यह अर्थ है। इसी कारण भागवत में "जहाँ भक्तजन भगवद्गुणगान करते हैं , वहाँ उनके मुख से अमृत की नदियाँ बहती हैं" इस वाक्य से लेकर "उस अमृत का पान करने वाले लोगों को भूख-प्यास, भय-शोक इत्यादि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते(श्री० भा० ४-२९-४०)" यहाँ तक के वाक्यों में भगवद्गुणगान की महिमा बताई गयी है। अथवा यों अर्थ करें कि - भगवान् में अहंताममता का भाव रखने का नाम है "संसार" ; अब इस अहंताममतारूपी संसार के विरह से अर्थात् अभाव में तात्पर्य यह कि संसार का अर्थ टीकाकार ने भगवान् में अहंताममता का भाव बताया है। अब जब जीव यह देखता है कि मेरा चित्त तो संसार में लगता ही नहीं है अर्थात् भगवान् के विषय में तो लगता ही नहीं है, उल्टे प्रभु से अतिरिक्त विषयों में लग रहा है, तो प्रभु के प्रति अहंताममता के अभाव के कारण उसे विरह होगा और उस विरह से उसे दो क्लेश होंगे। एक प्रभु से संबंध न जुड़ने का क्लेश एवं दूसरा प्रभु से अतिरिक्त विषयों में संबंध जुड़ने का क्लेश। टीकाकार इस प्रकार से अर्थ करते हुए कह रहे हैं कि, भगवद्गुणगान करने वाले को इस संसार से उत्पन्न करने वाले विरह के कारण ये दोनों प्रकार के क्लेश बाधा नहीं करेंगे। होनेवाले ये दो क्लेश अर्थात् प्रभु से अतिरिक्त अन्य विषयों में संबंध हो जाने का क्लेश एवं प्रभु से संबंध न जुड़ सकने का क्लेश ; ये दोनों क्लेश नहीं होंगे, यह अर्थ है। क्योंकि भगवद्गुणानुवाद में चित्त जुड़ जाने के पश्चात् जीव को सर्वत्र भगवद्विषयक संसार ही उत्पन्न होता है एवं अन्य संबंध दूर हो जाते हैं।

ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगवद्विषयकः फलसाधक इति चेत्, न। भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन सतामपेक्षणीयत्वात्। अत एव "कुर्वन्ति गोवत्सपद"मित्यत्र वत्सपदमात्रकरणोक्त्या "अहमेतद्दासो अयं मम स्वामी"त्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः।

किंतु पूर्वपक्षी इस अर्थ में शंका यह करता है कि , संसार तो कैसा भी हो, वह तो सदा हेय ही होता है। फिर भगवद्विषयक संसार फलसाधक कैसे हो सकता है ? नहीं , ऐसा नहीं है। जैसे काम भी यदि भगवद्विषयक हो तो वह दूषण न होकर भूषण ही है, उसी प्रकार संसार भी यदि भगवद्विषयक हो, तो वह फलसाधक बन जाता है। और सज्जनों को तो ऐसे भगवद्विषयक संसार की ही अपेक्षा रहती है। इसी कारण "हे प्रभु ! आपके चरणकमलरूपी जहाज का आश्रय लेकर लोग इस संसारसागर को बछड़े के खुर के समान छोटा समझकर पार कर जाते हैं(श्री० भा० १०-२-३०)" इस वाक्य में जो संसार को बछड़े के खुर के समान छोटा बताया गया है, इस वाक्य के संदर्भ में आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में यह निरूपित किया है कि, ऐसे भक्तों के लिए यह संसार "मैं भगवान् का दास हूँ एवं वे मेरे स्वामी" बस इतना ही होता है।

गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न, किंतु इष्टप्राप्तिरपीत्याहुः हरिवत्सुखमिति। यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदैवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणाविष्टचित्तानामपि अन्तस्तदाविर्भावात् सर्वदा प्रभुसाहित्येनान्तररमणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि सुखमित्यर्थः। "सदा सत्संगयुक्तानामवस्थैवं यदा भवेत् , तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे"दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति। यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगानं सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्वं प्रादुर्भावहेतुभूतं भवेदित्यर्थः।

भगवद्गुणों में चित्त के आविष्ट होने पर केवल अनिष्ट की निवृत्ति ही नहीं अपितु इष्टप्राप्ति भी होती है - यह आचार्यचरण **हरिवत्सुखम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **हरिवत्सुखम्** शब्द से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जैसे सर्वदुःखहर्ता भगवान् हरि को सर्वदा, अंतर्धान दशा में भी भक्त के संग द्वारा (क्योंकि अंतर्धान दशा में भी भगवान् सदैव भक्तों के संग ही रहते हैं) एवं

पूर्णानंद होने के कारण भी सुख प्राप्त होता है, वैसे ही भगवद्गुणगान में आविष्ट चित्त वालों को भी अंतःकरण में भगवान् का आविर्भाव होने से सर्वदा प्रभु से सानिध्य के कारण एवं उनके अंतःकरण में प्रभु के रमण करते होने के कारण वे भी आनंद से पूर्ण होते हैं और उनको भी सुख प्राप्त होता है - यह अर्थ है। और "जब सत्संग करने वालों की ऐसी अवस्था देखते हैं तब उनकी दीनता को देखकर हरि अपनी दयालुता प्रकट करते हैं" इस वाक्य में कहे भाव के आशय से आगे आचार्यचरण **तदा भवेद् दयालुत्वं** यह कह रहे हैं। जब पूर्व में कही रीति अनुसार भगवद्गुणगान सिद्ध होता है, तब भगवान् का प्रादुर्भाव कराने वाली उनकी दयालुता प्रकट होती है - यह अर्थ है।

अन्यथेति। भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि क्रूरता अनवेक्षकत्वेन मता सर्वशास्त्रसम्मता इत्यर्थः। अत एव "नैवात्मन" इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य विद्वज्जनोपहृतमानाग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते। सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम्॥ १३॥

अन्यथा का अर्थ है - यदि भक्तों में भगवान् के प्रति गुणगान का भाव न हो तो, भगवान् भी उनके प्रति अपनी क्रूरता प्रकट करेंगे अर्थात् उनकी ओर से उदासीन हो जायेंगे - यह बात शास्त्रसंमत मानी गयी है, यह अर्थ है। अतएव श्रीभागवत के "सर्वशक्तिमान प्रभु अपने आप में ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिये क्षुद्र पुरुषों से पूजा कराने की अवश्यकता नहीं है। वे तो करुणावश ही भोले भक्तों के हित के लिये उनकी पूजा को स्वीकार कर लेते हैं(श्री० भा० ७-९-११)" इस श्लोक में भगवान् के लिये यह बताया गया है कि, वे आत्मस्वरूप हैं, प्रभु हैं एवं अपने ही लाभ से परिपूर्ण हैं। उन्हें विद्वद्जनों के द्वारा दिये गये मान सम्मन की भी कोई अपेक्षा नहीं है। किंतु जब वे दया करते हैं तो एक किंकर-साधारण जीव द्वारा निवेदित वस्तु को भी ग्रहण कर लेते हैं। और उनकी ऐसी दयालुता तो पूर्व में कहे भाव द्वारा ही प्रकट होती है अतः हमारा कहा सभी कुछ उचित ही है॥ १३॥

ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशोद्वेगादिदोषैः प्रतिबन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १४॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्॥ १५॥

अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते, "न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति"रिति। अन्यत्रापि "आयुर्हरति वै पुंसां उद्यन्नस्तमयन्नसौ। तस्यर्ते यः क्षणो नीतः उत्तमश्लोकवार्तये"ति।

ठीक है, भगवद्गुणगान तो करना ही चाहिए परंतु समस्या यह है कि काल-कर्म-स्वभाव इत्यादि के द्वारा बुद्धिनाश एवं उद्वेग आदि दोषों द्वारा प्रतिबंध होता हो, तो गुणगान का निर्वाह करना कैसे संभव बने ? तो इसका समाधान आपश्री **बाधशङ्कापि नास्त्यत्र** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, यहाँ भगवद्गुणगान में तो काल आदि के बाध की भी शंका नहीं है क्योंकि स्वयं भगवान् ने ही श्रीभागवत में "जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ, वे भक्तजन मेरे वैकुण्ठ में दिव्ययोग प्राप्त करते हैं और उन्हें मेरा कालचक्र नहीं ग्रस सकता(श्री० भा० ३-२५-३८)" इस प्रकार से कहा है। अन्यत्र भी "जिसका समय भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों के गान-श्रवण में व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी की आयु व्यर्थ जा रही है(श्री० भा० २-३-१७)" इस प्रकार के वाक्य हैं ही।

एवं गुणगाने बाधाभावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूपं प्रत्युत साधकं धर्ममाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति। गुणगाने तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः।

इस प्रकार से गुणगान में समस्त बाधाओं का अभाव बता कर प्रत्युत गुणगान की प्रक्रिया से होने वाले सर्वत्र भगवान् के आभास को आचार्यचरण **तदध्यासोपि सिध्यति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं, जो निरोध प्राप्ति का साधक धर्म भी है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि गुणगान करने पर भगवान् का अध्यास अर्थात् सर्वत्र उनका आभास होने लगेगा। वह भी अवांतरफल के रूप में होगा, मुख्यफल के रूप में नहीं।

अध्यासपदं घटादिसर्वपदार्थेषु भगवदवभासस्य भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय। अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात्। न हि घटादिः साक्षात् तदभिन्नः, किंतु परंपरया। तस्याक्षरात्मतया तद्द्वारा तथात्वात्। अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं तेष्वप्यभिदध्यात्।

जगत् के घट-पट इत्यादि समस्त वस्तुओं में भगवान् का आभास प्रतीत होने की बात तो ऊपर कहे भावयुक्त भक्त के लिये कही जा रही है, जिससे आचार्यचरण को उसकी आसक्ति-भ्रम वाली दशा बतानी है, "आसक्तिभ्रम" का अर्थ यह है कि जब किसी को किसी के प्रति आसक्ति हो जाती है, तो उस आसक्ति के कारण उसे सर्वत्र उसी का भ्रम होने लगता है। इस अवस्था को आसक्ति द्वारा होने वाला भ्रम अर्थात् आसक्तिभ्रम कहा जाता है इस कारण उन्होंने "अध्यास" पद का प्रयोग किया है। आसक्तिभ्रम की दशा वाले जीव को जो समस्त जागतिक पदार्थों में भगवान् की प्रतीति हो रही है उसे यदि हम प्रतीति या भ्रम या अध्यास नहीं मानेंगे तो घट-पट इत्यादि जागतिक पदार्थों में एवं पुरुषोत्तम के स्वरूप में कोई अंतर ही नहीं रह जायेगा। ये घट-पट आदि पुरुषोत्तम से साक्षात् अभिन्न नहीं हैं परंतु परंपरा से घट-पट आदि को हमारे यहाँ पुरुषोत्तम से अभिन्न बता दिया जाता है। कारण कि ये घट-पट आदि अक्षरब्रह्मात्मक हैं और अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम से अभिन्न है अतः घट-पट आदि भी पुरुषोत्तम से अभिन्न ही सिद्ध हुए। यदि घट-पट को ही साक्षात् पुरुषोत्तम से अभिन्न मान लेंगे, तो फिर पुरुषोत्तम के विशिष्ट धर्म उनमें भी मान लेने पड़ेंगे।

ननूच्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात्। अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन्।

पूर्वपक्षी यहाँ एक और शंका भी कर सकता है। वह कह सकता है कि, सच्चिदानंद इत्यादि ब्रह्म के धर्म तो घट-पट आदि में कहे ही जाते हैं। जीव में सत्, वृक्ष आदि में चेतन और अंतर्यामि में आनंद अंश तो माने ही जाते हैं ? फिर उन्हें ब्रह्म से अलग क्यों माना जाय ? इस शंका के समाधान में यह समझना चाहिए कि, उनमें कहे जाने वाले सत्-चित्- और आनंद इत्यादि धर्म अक्षरब्रह्म में रहने वाले सत्-चित्-आनंद हैं। पुरुषोत्तम के सत्-चित्-आनंद नहीं। अतः यह जान लीजिए कि अक्षरब्रह्म के सत्-चित्-आनंद इत्यादि धर्म घट-पट में होते हैं अतः इनमें सच्चिदानंदता कह दी जाती है। यदि ऐसा न होता तो जैसे भगवान् को "बर्हापीडं" इत्यादि वाक्यों से संबोधित किया जाता है, वैसे घट-पट को भी किया जाता। परंतु नहीं कहा जाता।

न चेष्टापत्तिः, तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात्। किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तदगतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्वं सर्वसमत्वं सर्वावैशिष्ट्येनाभजनीयत्वं च स्यात्। तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगंधोपिति बुध्यस्व।

पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि, हाँ... हाँ.... भले ही घट-पट को भी बर्हापीडं इत्यादि से भगवान् की भाँति संबोधित कर लो, हमें कोई आपत्ति नहीं है ; यदि वह ऐसा कहता है तो समझ लीजिये कि भगवान् के असाधारण धर्म तो भगवान् में ही कहे जायेंगे, उन्हें अन्यत्र कहीं कहना तो अनुचित ही है। यदि भगवान् के असाधारण धर्म अन्यत्र भी कह दिये जाएँ, तो भगवान् का लक्षण करेंगे कैसे ? भगवान् को घट-पट आदि से अलग बतायेंगे कैसे ?? और तब तो सभी वस्तुओं के धर्म एक जैसे साधारण हो जायेंगे, फिर चाहे वह घट-पट हो या कि फिर भगवान्। और तब ऐसी परिस्थिति में जब भगवान् में कोई असाधारण धर्म ही न बचा तो भगवान् का लक्षण करना भी असंभव हो जायेगा। जब सभी वस्तुएँ एक समान ही हो गयीं फिर भगवान् की

भी कोई विशिष्टता ही न रही, तो उसे भजनीय भी नहीं माना जा सकेगा। इसलिए, यह जो जगत् के पदार्थों का ब्रह्म से अभेद कहा जाता है, वह अक्षरब्रह्म के संदर्भ में उनकी समानता बताई जाती है, पुरुषोत्तम की तो गंध भी उनमें नहीं है - यह जान लीजिए।

नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत् , सत्यम् , तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात्। यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः। "युक्तं भगैः स्वै"रिति वाक्यात्। एवं सति "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः", "पुरुषः स परः पार्थ", "भेदव्यपदेशाच्चे"त्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेद-वादोऽस्माकमिति दिक्।

पूर्वपक्षी फिर यहाँ एक शंका करता है। वह कहता है कि क्या भगवान् के लिये कहे जाने वाले षड्गुण-ऐश्वर्य-वीर्य-यश इत्यादि धर्म क्या अक्षरब्रह्म के लिये प्रयुक्त नहीं किये जाते ? क्या ये पुरुषोत्तम के धर्म नहीं हैं ? बात ठीक है, हैं तो वे पुरुषोत्तम के ही धर्म परंतु अक्षरब्रह्म भगवान् का चरणरूप होने के कारण पुरुषोत्तम से अलग नहीं है अतः यह धर्म अक्षरब्रह्म में भी कह दिए जाते हैं। इसी कारण व्यास आदि में भी जो भगवान् का ऐश्वर्य धर्म कहा जाता है, वह भगवद्-इच्छा से ही हुआ है। और यह बात "समग्र ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान और वैराग्य- इन छह शक्तियों से भगवान् सदा युक्त रहते हैं(श्री० भा० २-९-१६)" इस वाक्य द्वारा प्रमाणित हो जाती है। इस परिस्थिति में "क्षर एवं अक्षर से उत्तम पुरुष तो परमेश्वर ही हैं(भ० गी० १५-१७)" , "हे पार्थ ! मेरा परमधाम अक्षर है। परमपुरुष भगवान् अनन्य भक्ति से प्राप्त हो सकते हैं(भ० गी० ८-२२)" , "क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा को एक दूसरे से भिन्न बताया गया है(ब्र० सू० १-१-१७)" इत्यादि श्रुति-मीमांसा के अनुसार जगत् का अक्षरब्रह्म से तो अभेद है और पुरुषोत्तम से भेद है। सो इस दृष्टि से हमारा भेदाभेदवाद समझ लीजिए।

ननु "निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना"दिति वाक्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभस्याभावेङ्गहीनत्वेन कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य तदप्यनेनैव भविष्यतीति साधनसाधकत्वरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति। भगवद्धर्मोत्र गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो धर्मा ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामर्थ्याद्वस्तुशक्तेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये, विरागो रागाभावः, स्थिरः अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः। "सा श्रद्दधानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस" इति वाक्यात्। यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्तिजननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः। अत एवोक्तं श्रीभागवते, "परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेताः", "इत्थंभूतगुणो हरि"रित्यादि।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, "जिनकी तृष्णा सदा के लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका गान करते हैं, ऐसे कृष्णचंद्र से कौन प्रीति न करे?(श्री० भा० १०-१-४)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार वैराग्य भगवद्गुणगान का एक महत्वपूर्ण अंग है और वैराग्य होना अति कठिन होता है। जब वैराग्य ही सिद्ध न हो तो गुणगान अंगहीन हो जयेगा, तो फिर फलसिद्धि कैसे होगी ? इस शंका के समाधान में आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में यह बता रहे हैं कि वैराग्य की सिद्धि भी गुणगान से ही होगी अतः वैराग्यरूपी साधन के भी साधक के रूप में गुणगान का उत्कर्ष बताते हुए आपश्री **भगवद्धर्मसामर्थ्यात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवद्धर्म का अर्थ है - गुणगान। गाये जाने वाले भगवान् के ऐश्वर्य-वीर्य इत्यादि भगवद्धर्मों के सामर्थ्य से अर्थात् उनकी वस्तुशक्ति से ही भगवान् से अतिरिक्त विषयों में विराग स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर उस विराग को कोई दूसरी शक्ति हटा नहीं सकती है- यह बात "भगवत्कथा की रुचि जब बढ़ने लगती है, तब अन्य विषयों से भक्त को विरक्त कर देती है और उसके समस्त दुःखों का तत्काल अंत हो जाता है(श्री० भा० ३-५-१३)" इस वाक्य द्वारा समझ में आ जाती है। अथवा, भगवान् की लीलाएँ ही भगवद्धर्म हैं ; उन लीलाओं में सामर्थ्य यह है कि, वे भगवान् के प्रति आसक्ति पैदा करती हैं, जिस आसक्ति द्वारा सांसारिक विषयों से संबंधित वस्तुओं में विराग उत्पन्न होता है- यह अर्थ है। अतएव श्रीभागवत में "हे राजर्षे ! मेरी निर्गुण स्वरूप परमात्मा में पूर्ण निष्ठा है, फिर भी भगवान् कृष्ण की मधुर लीलाओं ने बलात् मेरे हृदय को अपनी ओर

आकर्षित कर लिया(श्री० भा० २-१-९)" , "भगवान् के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं(श्री० भा० १-७-१०)" इत्यादि वाक्य कहे गये हैं।

ननु भगवद्धर्मसामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागे गुणगायकानां दुःखं स्यादित्याशंक्याहुः गुणैर्हरिसुखस्पर्शादिति। गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य हृदयदेशे स्पर्शात् सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुधादिसहनेपि कर्हिचिदपि दुःखं न भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

अब पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि लोक में सुख के साधन तो सांसारिक विषय ही माने जाते हैं और भगवद्धर्म के सामर्थ्य से भगवद्गुणगान करने वालों को सुख के साधन सांसारिकविषयों में विराग तो हो जाता है परंतु इससे उन्हें दुःख प्राप्त होगा। इस शंका का समाधान आपश्री गुणैर्हरिसुखस्पर्शात् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि भगवद्गुण भी भगवत्स्वरूप से भिन्न नहीं हैं अतः जब उन गुणों के गान द्वारा जीव के हृदय में हरि का अर्थात् प्रभुसंबंधी सुखस्पर्श होता है, तो इस संबंध से उसे विषयों में हुए विराग के कारण भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी इत्यादि सहन करने पर भी दुःख महसूस नहीं होता क्योंकि भगवान् के आनंद से वह पूर्ण हो चुका होता है- यह अर्थ है ॥ १५ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः। अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः अमत्सरैरलुब्धैरिति। मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम्। "निर्मत्सराणां सता"मिति वाक्यात्। लोभश्च लौकिकक्षेत्रादितुल्यतापादकतया बाधकः। अत एवोक्तं भक्तिहंसे "वृत्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे"त्यादि ॥ १६ ॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक भगवद्गुणगान की कर्तव्यता कह कर अब आचार्यचरण एवं ज्ञात्वा इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि पूर्व में कहे समस्त प्रकारों द्वारा ज्ञानमार्ग से अधिक उत्कर्ष भगवद्गुणगान का है - यह जानकर अन्य सभी की अपेक्षा छोड़कर काल का व्यवधान किये बिना सदा भगवान् के गुणवर्णन करने चाहिए। इसमें दो बाधक हैं, उन दो बाधकों का त्याग करने के लिये आपश्री अमत्सरैरलुब्धैः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मात्सर्य एवं लोभ तो अत्यंत बाधक होने के कारण इनका त्याग ही करना चाहिए। "महामुनि व्यासदेव के द्वारा निर्मित इस श्रीमद्भागवत महापुराण में मोक्षपर्यंत फल की कामना से रहित परमधर्म का निरूपण हुआ है(श्री० भा० १-१-२)" इस वाक्य में कामनारहित धर्म करने का उपदेश दिया गया है। यदि किसी लोभ के कारण गुणगान किया जाता है, तो वह ठीक वैसे ही है, जैसे कि लौकिक में फसल पाने के लिये खेत में परिश्रम किया जाता है। इसी कारण प्रभुचरणों ने भक्तिहंस में "यदि भगवद्भजन वृत्यर्थ किया जाता हो तो वह भजन फल पाने की आकांक्षा से खेत में परिश्रम करने के समान है और सर्वथा लौकिक ही है" यह कहा है ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्ध्यर्थं गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

हरेः प्रभोः मूर्तिः स्वरूपं सदा ध्येया स्मरणीयेत्यर्थः। नन्वदृष्टरूपस्य कथं ध्यानमित्याशंक्य तस्यान्याशक्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा निःसाधनस्य गजेन्द्रस्येव रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितुं हरीति।

अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोकों में यह बता रहे हैं कि भगवद्गुणगान तो अवश्य करें किंतु सर्वथा कीर्तनों के राग, तान, सुर इत्यादि में ही न रह जाएँ, यह ध्यान रखना चाहिए। गुणगान करते समय केवल राग-तान के वशीभूत न होकर सर्वथा ध्यान प्रभु में होना चाहिए क्योंकि यही निरोध का अर्थ है। अतः इसकी सिद्धि के लिये जिन प्रभु की लीलाओं का गुणगान कर रहे हैं, प्रभु के उस विशिष्ट स्वरूप को साधन बताते हुए आपश्री **हरिमूर्तिः सदा ध्येया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

प्रभु-हरि की मूर्ति-स्वरूप का सदा ध्यान करना चाहिए, स्मरण करना चाहिए - यह अर्थ है। किंतु प्रश्न यह होता है कि जिस स्वरूप को देखा ही न गया, उसका ध्यान कैसे करें ? तो समझिए कि गजेन्द्र जो कि सर्वथा निःसाधन था और प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई भी उनके मनोरथ की पूर्ति नहीं कर सकता था , उसकी रक्षा करने के लिये जैसे प्रभु प्रकट हुए ही थे अतः ऐसे प्रभु का दर्शन दुर्लभ नहीं है- यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने "हरि" पद का प्रयोग किया है।

ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपासनायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियाविशेषप्रयुक्तमूर्तीना ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशंक्याहुः **मूर्तिरिति**। भक्त्याविर्भूतरूपस्यैव ध्यानम् , न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थ। अन्यथा कल्पिताकारत्वे यथाकथञ्चिद्धरिर्ध्येय इत्येव वदेयुः। **ध्येयेति** कृत्यप्रत्ययेनावश्यकत्वं द्योतितम्।

अब कोई पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि जैसे योग में किसी कल्पित मूर्ति का ध्यान किया जाता है और उपासना में जैसे किसी कल्पित मूर्ति में उस देव की समस्त क्रियाओं को अध्यस्त करके(मान कर के)उपासना की जाती है, और जैसे ज्ञानमार्ग में उपधानसहित मूर्ति का ध्यान किया जाता है, वैसे ही प्रकार से क्या यहाँ भी ध्यान करें ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण **मूर्तिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का कहना यह है कि भक्ति के द्वारा आविर्भूत हुए भगवत्स्वरूप का ध्यान करना चाहिए, अपने मन से कल्पित किसी मूर्ति का नहीं। अगर आपश्री को किसी कल्पित आकार का ही ध्यान करना कहना होता तो वे "जिस-किसी प्रकार से हरि का ध्यान कर लो" यों ही कह देते। आपश्री "ध्येया" शब्द में प्रयुक्त कृत्य-प्रत्यय से ध्यान की आवश्यकता को द्योतित कर रहे हैं।

ननु ध्यानसहित गुणगाने किं भवतीत्याशंक्य तदवान्तरफलमाहुः **सङ्कल्पादपीति**। ध्यानस्य का कथा, यतः सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र ध्यानविषयप्रभुस्वरूपे प्रादुर्भावाद्भगवतो दर्शनं सर्वावयवावलोकनरूपम् , स्पर्शनं चरणादितद्रूपम् , तथा कृतिः शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, गतिर्विलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वकगुणगानेन सङ्कल्पमात्रात् , प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे स्पष्टमबाधितम् , न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रतिक्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः।

परंतु कहे-अनुसार ध्यानसहित गुणगान करने पर होगा क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में आपश्री ध्यान का अवांतरफल **सङ्कल्पादपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अरे ! ध्यान की तो बात ही छोड़िए , केवल संकल्प से ही, विचार मात्र से ही ध्यान किये गये भगवत्स्वरूप में भगवान् का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे प्रभु के समस्त अवयवों का भक्त दर्शन कर सकता है। उनके चरणों का स्पर्श कर सकता है। अपने मस्तक पर भगवान् के हस्तकमलों को धर सकता है। उनके संग विलास कर सकता है। यह सभी कुछ ध्यानपूर्वक किये गये गुणगान द्वारा संकल्पमात्र से प्रकट हुए भगवान् में स्पष्टता से हो जाता है, भ्रम या प्रतीति से नहीं क्योंकि भक्त इन सभी का प्रतिक्षण अनुभव करता है, यह अर्थ है।

ननु श्रुतानां पुनः कीर्तनेन स्थिरीकृतानां गुणानां गानं सम्भवतीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहुः**श्रवणं कीर्तनमिति**। श्रवणं हि भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः, तदनु कीर्तनं श्रुतस्य स्थैर्यसिद्धये पुनः पुनः स्वतः सर्वत्र कथनम् , एतद् द्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम्। अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भावनाविपरीतभावने स्याताम्। अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैः

श्रीभागवततत्वदीपे "सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस्तत" इति। श्रोतृसापेक्षं कीर्तनम् ,तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः।

अब कारण कि सुने हुए भगवद्गुणों का कीर्तन करने से वे गुण हृदय में स्थिर हो जाते हैं और तब उनका गान सुलभ हो जाता है अतः आपश्री श्रवण-कीर्तन को **श्रवणं-कीर्तनं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्रवण का अर्थ है - भगवान् का परिचय देने वाले पद और वाक्यों की क्रमशः शक्ति और तात्पर्य को समझ पाना। अर्थात् उन पदों का, उन शब्दों का अर्थ समझना एवं उन वाक्यों का गूढ़ तात्पर्य समझ पाना। इसके पश्चात् कीर्तन का अर्थ है - सुने हुए भगवद्गुणों को हृदय में स्थिर/दृढ़ करने के लिये उन्हें पुनः पुनः सर्वत्र कहना। श्रवण और कीर्तन इन दोनों को संकोच-आदि छोड़ कर करना चाहिए। अन्यथा श्रवण-कीर्तन की प्रक्रिया में प्रभु के प्रति असंभावना और विपरीत भावना बाधा उत्पन्न करने लगेंगी। इसी कारण श्रीमदाचार्यचरणों ने श्रीभागवततत्वदीप में "भगवान् के गुणों का गान अथवा नामोच्चारण तो सभा में भी करें जिससे भक्त निर्भय एवं निःस्पृह बनता है(सर्व०-२४२)" यह कहा है। कीर्तन में सुनने वाले की अपेक्षा रहती है और गान स्वयं अकेले ही किया जाता है, यह कीर्तन एवं गान के बीच का विवेक समझना चाहिए।

ननु "काममयोयं पुरुष" इति श्रुतेः सर्वथा ध्याने सङ्कल्पानन्तरं यत्किञ्चित् कामसम्भवात् गुणगाने कीदृशः कामः कर्तव्यमिति तमाहुः **पुत्रे कृष्णप्रिये** इति। पुत्रे सङ्कल्पपुत्रे सङ्कल्पोत्पन्ने कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वक धर्मिस्वरूपमात्राभिलाषरूपे कामे **रतिः** प्रीतिः कार्येत्यर्थः। एतेन सर्वात्मभावभावनं सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति।

अब पूर्वपक्षी को एक शंका और होती है। वह कहता है कि,"काममयोयं" इस श्रुति के अनुसार जब भक्त सर्वथा प्रभु का ध्यान करेगा एवं ध्यान के पश्चात् संकल्प करेगा, तो कोई न कोई कामना(काम)तो उसमें जागेगी ही, अतः प्रश्न यह उठता है कि उसे गुणगान में किस प्रकार की कामना करनी चाहिए ? तो इसका समाधान आचार्यचरण **पुत्रे कृष्णप्रिये** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ "पुत्र" शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य है - संकल्प का पुत्र अर्थात् "काम" ; क्योंकि काम मन में हुए संकल्प से ही उत्पन्न होता है। सो तात्पर्य यह हुआ कि संकल्प से उत्पन्न हुए इस कामरूपी पुत्र में रति करनी चाहिए। अब यहाँ कहा गया काम लौकिक न होकर सर्वथा अलौकिक है और वह अलौकिकता क्या है, यह समझ लीजिए .... । वह यह कि सदानंद-पुरुषोत्तम-कृष्ण के विषय में होने वाले काम में रति करनी चाहिए अर्थात् समस्त वस्तुओं के परित्यागपूर्वक मात्र धर्मिस्वरूप की अभिलाषा हो, ऐसे काम में रति करनी चाहिए- यह अर्थ है। इस बात से आचार्यचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, सर्वदा सर्वात्मभाव का भावन करना चहिए।

तस्य भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरिवर्तनलक्षणं फलमाहुः **पायोरिति**। पायोः सर्वशरीरगतमलाधिष्ठानस्य स्वमलांशमात्रेणैवाखिलशरीरलौकिकतापादकस्य सम्बन्धि यो **मलांशो** लौकिकविषयेभोगजन्यस्तस्य सर्वात्मभावभावने "सन्त्यज्य सर्वविषया"नित्यादिवाक्यैः सकारणस्य त्यागेन **तनौ** शरीरे सा अलौकिककामरतिः **शेषभागं** मलरहितांशरूपं भगवत्सम्बन्ध-योग्यतापादकं **नयेत्** प्रापयेदित्यर्थः। पुत्र इति सामान्यपदमस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय।

और, ऊपर कहे गये प्रकार से भावना किया गया काम शरीर में क्या परिवर्तन लायेगा, उसका फल आपश्री **पायोः** इत्यादि शब्द से कह रहे हैं। पायु-इन्द्रिय समस्त शरीर के मल का स्थान है, वह अपने मलांश मात्र से ही समस्त शरीर में लौकिकता पैदा कर देती है। उससे संबंधित लौकिकविषयों के भोग से उत्पन्न हुआ जो मलांश है, उसका सर्वात्मभाव की भावना द्वारा त्याग करने की प्रक्रिया द्वारा अर्थात् जैसा त्याग "सन्त्यज्य(श्री० भा० १०-२९-३१)" इस वाक्य में कहा है, वैसे कारणसहित त्याग करने की प्रक्रिया द्वारा उस अलौकिककाम-रति द्वारा मलरहित, भगवत्संबंध की योग्यता वाले शेषभाग को शरीर में ले

जाना चाहिए - यह अर्थ है। यहाँ आचार्यचरणों ने "काम" को सीधे-सीधे काम न कह कर सामान्यतया "पुत्र" शब्द से इंगित किया है क्योंकि यह अर्थ अति गुप्त है एवं आपश्री ने इसे परोक्षवाद से कहा है।

नन्वेतादृशस्यापि "तादृशस्यापि सतत"मितिवाक्यात् दुःखसंगादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहुः यस्येति। यस्य पुत्रादेरिन्द्रियादेर्वा भगवत्कार्यं सेवागुणगानादि स्पष्टं प्रातिकूल्येन न दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्ये तस्य विशेषेण भरणादिकमकृत्वापि निग्रहः कर्तव्य इत्यर्थः।

ऐसे जीव को भी "क्रमशः प्रेम-आसक्ति-व्यसन सिद्ध हो चुके जीव को भी गृहस्थान बाधक होता है(भ० व०-६)" इस वाक्य के अनुसार दुःसंग -आदि से भावनाश होने की संभावना बनी रहती है, अतः उसका उपाय आचार्यचरण यस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यस्य का अर्थ है - जिस पुत्र आदि अथवा इन्द्रिय आदि का भगवत्सेवा गुणगानादि रूप भगवत्कार्य स्पष्टरूप से दिखाई न देता हो अर्थात् समझाने-बुझाने पर भी भगवान् की ओर प्रतिकूलता के कारण स्पष्ट दिखाई नहीं देता, तब यदि अपने में सामर्थ्य हो तो उसका भरणपोषण-आदि भी न करते हुए विशेषरूप से उसका निग्रह करना चाहिए - यह अर्थ है।

अन्यथा सत्यां शक्तौ तदनिग्रहे "अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती"ति न्यायेन तद्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः इति निश्चय इति। इदमुक्तं भवति। भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रातिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः, शरणभावनं वा कर्तव्यम्, "प्रतिकूल्ये गृहं त्यजेत्" , "अशक्ये हरिरेवास्ती"तिवाक्यादिति भावः॥ १७,१८,१९ ,॥

और खुद में निग्रह करने की शक्ति होने पर भी यदि उनका निग्रह न करें तो, "जिसका प्रतिषेध नहीं किया गया, वह वस्तु सामनेवाले ने मान ली है" इस न्याय से उन इन्द्रियों में यदि रति करेंगे , तो आचार्यचरण द्वारा कहे "कृष्णप्रिय-पुत्र में रति करनी चाहिए" इस वाक्य से विरोध हो जायेगा। अतः आपश्री कहते हैं कि - हमारी बात को निश्चित् कर लो। अब यह कहना शेष रह जाता है कि यदि पुत्रादि भगवत्कार्य के अनुकूल हैं तो उनमें रति करनी चाहिए ; प्रतिकूल हैं तो उनका निग्रह और यदि वे सर्वथा असंभवरूप बन जाएँ तो, उनका त्याग कर देना चाहिए। अथवा "यदि पत्नी-पुत्र आदि प्रतिकूल हों तो गृहत्याग कर देना चाहिए(सर्व०-२३१)" , "अशक्य परिस्थिति में हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए(वि० धै० आ०-९)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान् की शरणभावना करनी चाहिए - यह भाव है॥ १७, १८, १९॥

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोरुत्कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति नातः परतरो मन्त्र इति।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

मन्त्रे हि कामितफलदत्वं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम् , तदत्र कामनाप्रसरमनोरथान्तफलसिद्धया अनिर्बन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मन्त्रः परतरः। अविलम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उत्कृष्टत्वेपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः। ननु प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्बन्धेन स्वामिवशीकरणाच्च स्तवस्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशंक्याहुः नातः परतरः स्तव इति। स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेपि प्रभुवशीकरणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः।

इस प्रकार से आचार्यचरण निरोध में "भावभावना" एवं "भगवद्गुणगान" इन दो साधनों का निरूपण करके अन्य सभी साधनों की तुलना में इन दो साधनों की श्रेष्ठता बता कर नातः परतरो मन्त्रः इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं।

मन्त्र कामना किये गये फल को देने एवं देवता का वशीकरण करने के लिये प्रसिद्ध है। और इस ग्रंथ में बताया हुआ श्लोकरूपी मन्त्र कामना से होने वाले समस्त मनोरथों को निर्बाधरूप से पूर्ण करता है एवं इससे तो स्वयं प्रभु भक्त के वश में हो जाते हैं अतः इन दो साधनों के कारण यहाँ बताए गये मन्त्र परतर हैं। हालांकि मन्त्र शीघ्र ही फल की सिद्धि कराते हैं अतः वे कर्म-आदि की तुलना में उत्कृष्ट तो अवश्य होते हैं, फिर भी ऊपर कहे दो साधनों के कारण यहाँ इस ग्रंथ में बताए गये मन्त्र से तो उत्कृष्ट नहीं हैं- यह अर्थ है। अब स्तोत्र जिससे प्रभु प्रसन्न होते हैं एवं स्तुति करने से अपना स्वामी अपने वश हो जाता है,

तो कदाचित् स्तोत्र इस ग्रंथ से उत्कृष्ट हो सकता है – यह विचार आता है। तो आचार्यचरण इस ग्रंथ को स्तोत्र से भी श्रेष्ठ बताते हुए **नातः परतरः स्तवः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यह बात ठीक है कि प्रभु को प्रसन्न करने की दृष्टि से मन्त्रों की तुलना में स्तोत्र अधिक श्रेष्ठ है, तथापि स्तोत्र प्रभु को वश में नहीं कर सकता अतः कोई भी स्तोत्र इस ग्रंथ से उत्कृष्ट नहीं है।

ननु ब्रह्मविद्यायाः "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः", "ज्ञानी त्वात्मैव मे मत" इत्यादिवाक्यैः प्रभुप्रीतिसाधकतया साक्षात्कारहेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टमित्याशंक्याहुः **नातः परतरा विद्येति**। विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा ब्रह्मानन्दमनुभावयति। तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमे"ति, भावभावनगुणगाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु स्वरूपात्मकानन्दं पूरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरात्मनापि तदानन्दमनुभावयत इत्यन्येभ्य उत्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुत्कृष्टेत्यर्थः। अखिलपापभस्मीकारस्तु "दुःसहप्रेष्ठविरहे"तिवाक्यादत्राप्यवगन्तव्यः।

अब यहाँ शंका यह होती है कि, "भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है, उसे मैं अत्यंत प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है(भ० गी ७-१७)" , "ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही हैं, मेरी भक्ति के परायण रह कर वह मुझे प्राप्त करता है(भ० गी० ७-१८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मविद्या प्रभु में प्रीति कराने के द्वारा प्रभु का साक्षात्कार कराती है एवं समस्त पापों को भस्मीभूत कर देती है अतः विद्या उत्कृष्ट होनी चाहिए। तो आचार्यचरण **नातः परतरः विद्या** इत्यादि शब्दों से उत्तर दे रहे हैं। समझना चाहिए कि विद्या के पाँच अंग होते हैं। वे पाँच अंग क्रमशः सांख्य-योग-वैराग्य-तप और भक्ति हैं। विद्या जब सिद्ध हो जाती है, तब वह प्रभु का मात्र साक्षात्कार करवा कर उनमें लीन करवा देती है एवं केवल मन से ब्रह्मानंद का अनुभव कराती है। यही बात हमारे आचार्यचरणों ने श्रीभागवततत्वदीप में "ब्रह्मानंद में प्रविष्ट होने वाले जीव की आत्मा में ही सुख की अनुभूति होती है क्योंकि उनके देहादि संघात का लय हो जाता है(शा० प्र०-५०)" इस वाक्य द्वारा कही है। जबकि भावभावन एवं गुणगान अपने भीतर प्रभु को प्रकट करवा कर देह-इन्द्रिय-प्राणान्तःकरण इत्यादि में स्वरूपात्मक आनंद की पूर्ति कर देते हैं और समस्त इन्द्रियों, अंतःकरण एवं आत्मा द्वारा भी प्रभु के आनंद का अनुभव कराते हैं अतः विद्या भले ही अन्यों से उत्कृष्ट हो तथापि भावभावन एवं गुणगान, इन दो साधनों से तो उत्कृष्ट नहीं है – यह अर्थ है। और भावभावन एवं गुणगान द्वारा समस्त पापों का भस्मीभूत हो जाना तो श्रीमद्भागवत में "अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के असह्य विरह की तीव्र वेदना से गोपिकाओं के हृदय में इतनी जलन हुई कि, उनमें जो कुछ भी अशुभ संस्कारों का लेशमात्र भी अवशेष था, वह भस्म हो गया(श्री० भा० १०-२९-१०)" इस वाक्य द्वारा बताया गया है ही, अतः यही बात यहाँ भी लागू होती है – यह जान लीजिए।

नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति, अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तच्छोधकतीर्थाश्रयस्यावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टतामाशंक्य आहुः तीर्थं नातः परात्परमिति। तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जकतयोत्कृष्टत्वेपि गुणगानादेः "सत्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंस" इतिवाक्यादविलम्बेन चित्तशोधकत्वात् सर्वतीर्थरूपत्वाच्च साम्प्रतं तेषां दुष्टावृतत्वेन तिरोहिताधिदेवत्वेन चासाधकत्वादेतस्मात् परात् सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्तनिष्कर्षो निरूपित इति दिक् ॥ २० ॥

स्वाचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनादरसाधनात्। निरोधलक्षणग्रन्थं विवव्रे हरिदासकः ॥ १ ॥

इति श्रीमन्निजाचार्यचरणाभिषेकलब्धमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदासविरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

ठीक है, परंतु यह सभी कुछ तो चित्त की शुद्धि हो जाने पर ही संभव हो सकता है। अशुद्ध चित्तवाले के लिये तो ऊपर कहे समस्त साधन विफल ही हैं अतः चित्त को शुद्ध करने के लिये तीर्थों का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ेगी। इस दृष्टि से शंका यह होती है कि तीर्थ ही उत्कृष्ट हैं। तो आचार्यचरण इसका समाधान **तीर्थं नातः परात्परं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि भले ही तीर्थ समस्त साधनों के मूलभूत साधन मन की शुद्धि कर देने के कारण उत्कृष्ट होते हों, तथापि भगवद्गुणगान इत्यादि के द्वारा "भगवद्-लीलाओं के श्रवण से, भगवद्-कथा से मनुष्य का अंतःकरण शीघ्र से शीघ्र शुद्ध हो जाता है(श्री० भा० १०-७-२)" इस वाक्यानुसार शीघ्र ही चित्त की शुद्धि हो जाती है और गुणगान ही समस्त तीर्थरूप हैं। जबकि वर्तमान में तो समस्त तीर्थ दुष्टों से घिर चुके हैं और इस कारण उन तीर्थों का आधिदैविक स्वरूप तिरोहित हो चुका है

अतः अब वे प्रभुप्राप्ति के साधन नहीं रहे। इन कारणों से ऊपर कहे दो साधन अर्थात् "भगवद्भावना" एवं "भगवद्गुणगान" ये दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं और इनकी तुलना में तीर्थ अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं - यह आचार्यचरणों ने अपने सिद्धांत का निष्कर्ष कह दिया है॥ २०॥

अपने आचार्यचरणों के युगलचरणों के वंदन और आदर रूपी साधन द्वारा हरिदास ने निरोधलक्षणग्रंथ की व्याख्या की॥ १॥

श्रीकृष्णाय नमः

निरोधलक्षणम्।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम्।

[1]भक्तभावात्मरूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च। तद्दानायात्तदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः॥ १॥
विरागादिन्द्रियाणां वै [2]निग्रहे सति साधनैः। यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम्॥ २॥
तदभावेन सर्वेषु प्रकृतांशानिवृत्ततः। भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः॥ ३॥
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्यात् फलं रोधतो यथा। तदर्थं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते॥ ४॥

प्रथमं दशमार्थनिरूपणे निरोधशब्देन "निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सहशक्तिभिः प्रपञ्चे क्रीड़नं हरे"रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीड़नमुक्तम्। तत्क्रीड़नं लीलासृष्ट्यन्तर्गतभक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्तवृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गे।

श्रीवल्लभकृतविवरण भक्त के भावात्मकरूप, भक्तिमार्ग के प्रणेता, भक्ति का दान देने वाले, अंगीकृतजीवों को भक्तिमार्ग की दीक्षा देने वाले मेरे आचार्य श्रीमहाप्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥ वैराग्य से इन्द्रियों का निग्रह होने पर एवं यमादि साधनों द्वारा ज्ञान-विज्ञान होने पर सत्फल प्राप्त होता है॥ २॥ यदि ऐसा न हो तो, समस्त इन्द्रियों में प्राकृत-अंश की निवृत्ति न होने से तब इस भक्तिमार्ग में साक्षात् फलप्राप्ति कैसे हो सकेगी ?॥ ३॥ अतः यम-नियम आदि साधनों से रहित अपने अंगीकृत जीवों को रोधपूर्वक जिस प्रकार से फलप्राप्ति हो जाय, उसके लिए आचार्यचरण अपने मार्ग में कहे रोध के साधन का स्वरूप यहाँ वर्णित कर रहे हैं॥४॥

सर्वप्रथम तो दशमस्कंध का अर्थ निरूपण करने के संदर्भ में श्रीमद्भागवत में "जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाना निरोध है(श्री०भा० २-१०-६)" इस वाक्य से निरोध शब्द द्वारा साक्षात् भगवत्क्रीड़ा बताई गयी है। भगवान् की वह क्रीड़ा उनकी लीलासृष्टि के अंतर्गत आनेवाले भक्तों का प्रपंचविस्मृतिपूर्वक समस्त इन्द्रियों का भगवान् में निरोध हो जाने पर परिपूर्ण होती है। इसी कारण भागवत के दशमस्कंध में कहा गया है कि, भक्तिमार्ग में भक्तों की चित्तवृत्ति का निरोध होता है।

तत्र पुनः प्राकट्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीयप्रोद्भूतभावाङ्कुराणां परमभाग्यवतां व्रजसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, साम्प्रतं तत्प्राकट्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरोधसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेधपूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति यच्चेति।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

अत्रेदमाकूतम्। गोकुलं तु विविधविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता पुष्टिमार्गेङ्गीकृतमतः स्वानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपबीजस्वभावजनिततद्वासनया तदनुरूपोद्भूतभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वभावाद्दुःखमपि तत्र स्थितम्, येन साक्षात्भगवत्प्राकट्यमभूद् , अग्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोधमार्गिणा तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्प्राकट्यसाधकम्, अतस्तदैवैवं स्वस्मिन्सम्भावनया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति लक्षयन्ति।

तत्पश्चात् पुनः प्राकट्यदशा में तो साक्षात् अंगीकृत, पुष्टिमार्गीय बीजभाव वाले परमभाग्यवान व्रजवासियों की चित्तवृत्ति

---

१. भक्तभावस्वरूपायेति पाठः। २. निरोधे इति पाठः।

का निरोध तो प्रभु ने अपने स्वरूप **से ही किया**. किंतु इस समय तो प्रभु की प्राकट्यदशा **नहीं है** अतः अपने अंगीकृत किये गये आज के आधुनिक जीव पुष्टिमार्गीयप्रभुप्राप्ति के साधनों से अनभिज्ञ हैं, इस कारण वे कदाचित् ज्ञानमार्गीयनिरोध के साधनों की ओर भी मुड़ सकते हैं अतः आचार्यचरण यहाँ ज्ञानमार्गीय साधनों का निषेध करते हुए, पुष्टिमार्गीयनिरोध के परिपूर्ण होने में जो आवश्यक मूलकारण है, वह **यच्च** इत्यादि शब्दों से निरूपण कर रहे हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि, साक्षात् भगवान् ने विविध प्रकार से विहरण करने की इच्छा से उत्पन्न सहज कृपा द्वारा साक्षात् रीति से गोकुल-गाम को पुष्टिमार्ग में अंगीकार किया है। अतः गोकुल को तो अपना आनंद देने के लिये ही भगवान् ने प्रकट किया है, फिर भी, पुष्टिमार्गीय पद्धति से होने वाले अंगीकार का स्वरूप "बीजभाव" है और उस बीजभाव से उत्पन्न हुए संस्कार द्वारा बीजभाव के अनुरूप होने वाले उस भावांकुर का स्वभाव ही ऐसा होता है कि, उससे भगवत्संबंधी दुःख उत्पन्न होता है। अतः गोकुलवासियों को भगवत्संबंधी दुःख हुआ और जिस दुःख के कारण वहाँ भगवान् का साक्षात् रूप से प्राकट्य हुआ। इस दुःख के पश्चात् आगे उन्हें भगवत्संबंधी सुख भी हुआ अतः वर्तमान में ऐसे निरोधमार्गी-स्वजनों के लिये इस प्रकार का दुःख ही भगवत्प्राकट्य का साधन है। जैसा-जैसा दुःख, वैसे-वैसे प्रकार के निरोध द्वारा भगवत्प्राकट्य का साधन। इस प्रकार से अपने में वही दुःख की संभावना करके सदा उस दुःख की भावना करनी चाहिए- यह बात आचार्यचरण स्वीयजनों के प्रति लक्षित कर रहे हैं।

तथा हि। अन्वयार्थस्तु स्पष्ट एव। यदित्यनिर्वचनीयत्वमुक्तम्। चकारोप्यर्थकः सम्भावनायाम्। तथा च सुखं तु दुर्लभमेव। दुःखमपि चेत्स्यादिति। एतद्दुःखस्य ब्रह्मानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वोत्कृष्टत्वेनातिदुर्लभाधिकारज्ञापनाय सम्भावनैवोक्ता, न तु प्रार्थनाम्। तत्रापि क्वचित् कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोत्कण्ठापेक्षितेति सूचितम्। एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोधसाधकमिति ज्ञेयम्। दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात् प्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितल्लालनक्रीड़ावलोकनादिविविधमनोरथात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकट्याशया तत्तन्मनोरथात्मकं तथा। ततः प्राकट्यानन्तरमपि बाल्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन क्रूरदृष्ट्यादिपतनरूपम्। ततः प्रभोरतिचञ्चलस्वभावेन श्रृंग्यग्निभयरूपं, क्रीड़ासक्त्या भोजनादिविलंबजनितार्तिरूपं च। श्रीस्वामिनीनामपि प्राकट्यानन्तरं क्षणमात्रावलोकनाभावेन स्थातुमशक्त्या विविधकार्यव्याजेन मुहुर्मुहुः श्रीमातृचरणसमीपागमनं तद्धेतुकमेवेति तादृशं तथा।

किस प्रकार से ! अब यह समझें। इस श्लोक का अन्वयार्थ तो स्पष्ट ही है। इस श्लोक में प्रयुक्त यत् शब्द से ज्ञात होता है कि, इस श्लोक में बताया गया दुःख ऐसा है कि, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। "च" शब्द का अर्थ यहाँ "और" के अर्थ में न होकर "भी" के अर्थ में है और "संभावना" के अर्थ में है, जिसका तात्पर्य यह है कि, भगवत्सुख प्राप्त होना तो दुर्लभ ही है किंतु आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मुझे यशोदाजी इत्यादि को होनेवाले दुःख प्राप्त करने की संभावना है कि नहीं ? ऐसे दुःख के आगे तो ब्रह्मानंद भी तुच्छ है अतः यह सर्वोत्कृष्ट होने के कारण कोई दुर्लभ ही इसका अधिकरी हो सकता है- यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस श्लोक में उस दुःख की केवल संभावना ही व्यक्त की है, प्रभु से प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। ऐसा दुर्लभ होने पर भी वह दुःख कभी तो होगा और यदि हो जाय तो क्या कहना ! अतः उस दुःख के लिये निरोधमार्गीयों को सदा उत्कंठा बनी ही रहती है, यह सूचित किया गया है। कुल मिलाकर यह समझना चाहिये कि, उपर्युक्त प्रकार के भाव में बताया गया दुःख ही निरोध का साधक है। दुःख तो भगवत्प्रादुर्भाव के पहले भी श्रीयशोदाजी एवं नंदजी को था ही अर्थात् नंद-यशोदाजी के मन में पुत्रोत्पत्ति, अपने आँगन में अपने लालन को खेलते हुए देखना, इत्यादि विविध मनोरथात्मक दुःख तो था ही। उसी प्रकार गोपीजनों ने भी प्रभु के प्रकट होने की आशा से मन में जो जो मनोरथ किये, उसमें उन्हें दुःख हुआ ही। इसके पश्चात् प्रभु का प्राकट्य होने के पश्चात् भी बाल्यकाल में जब व्रजवासियों ने पूतना जैसी राक्षसी को देखा तो भय से उन्होंने यह सोचा कि, अवश्य इस राक्षसी ने हमारे बालकृष्ण पर भी क्रूर दृष्टि डाली होगी। इस दुःख के अतिरिक्त प्रभु के अति चंचल स्वभाव के कारण गाय के सींगों को पकड़ लेना, अग्नि को पकड़ने के लिये लपकना एवं इससे व्रजवासियों को भय होना इत्यादि ; एवं खेल में मग्न रहने के कारण उनका भोजन-आदि में विलंब करना और इस विलंब से उनके मन में आर्ति होने का दुःख भी। प्रभु के प्रकट होने के पश्चात् यदि क्षण मात्र के लिये भी प्रभु दिखाई नहीं देते थे तो गोपियों का जीवन दूभर हो जाता था अतः प्रभु की एक झलक

पाने के लिये किसी न किसी कार्य के बहाने उनका वारंवार माता यशोदा के पास जाना भी उसी दुःख के कारण ही है।

प्रातर्यावत्पर्यन्तमुन्निद्रायतविकसन्नवसरोजदलसदृशमीक्षणयुगलमुन्मीलयेत्प्रभुस्तावत्तत्तापासहिष्णुता "चिरविरहे"त्युक्तप्रार्थनहेतुरूपंच। ततो गोचारणगमनादिषु प्रातरारभ्य सन्ध्यावधि तद्दर्शनजनिततत्तन्मनोरथात्मकं च। अग्रे नादनिष्ठामृतपानानन्तरं स्वामिनीनां तु स्पष्टमेव। अग्रेपि रासलीलायां साक्षात्पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्रभावात्मकं च। पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्तौ स्पष्टमेव। ततस्तस्य "संस्मृत्य संस्मृत्ये"त्युक्तत्वात्तत्तल्लीलानुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्तौ दुःखभानाभावाद्यथा पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महद्दुखार्णवनिमज्जनं चेत्यादिरूपम्, तथा चेद्रूपे दुखे जाते पूर्णो निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतद्दुःखान्तर्गतानिर्वचनीयसुखानुभवहेतुभावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव सम्भावनीयमिति तथोक्तम्॥ १॥

सवेरे-सवेरे जब तक उनिंदे से प्रभु खिले हुए नवकमल के सदृश अपने नेत्रों को न खोल दें, तब तक उनके दर्शन के लिये विरह ताप को सहन करना भी वही दुःख है, जैसे कि "प्रेमरूपी पलने में पोढ़े हुए प्रभु का ईक्षण चिरकाल के विरह से उत्पन्न हुए ताप को हरने वाला है(श्री०गु०-पालना पद-१)" इस पद में श्रीगुसांईजी ने कहा है। इसके पश्चात् गौचारण के लिये वन में पधारे हुए प्रभु जब सवेरे से लेकर संध्याकाल तक दिखाई नहीं देते थे, तब गोपीजनों के मन में जिस-जिस प्रकार के मनोरथ होते थे, वह दुःख। इसके पश्चात् वेणुनाद के स्वरों का अमृतपान करने के पश्चात् गोपीजनों को जो विरहात्मक दुःख हुआ, वह तो स्पष्ट ही है। रासलीला के समय भी साक्षात् पूर्णरसदानपर्यंत प्रभु के तिरोहित होने के पश्चात् जो गोपिकाओं को विरहात्मक दुःख हुआ, वह दुःख। विप्रयोग होने पर जो उन्हें दुःख हुआ, वह तो स्पष्ट ही है। इसके पश्चात् भगवद्गीता में कहे "हे राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस परम अद्भुत और पावन संवाद का वारंवार स्मरण करके मैं प्रतिक्षण हर्षित और रोमांचित हुआ जाता हूँ(१८-७६,७७)" इस वाक्य के अनुसार प्रभु की उन-उन लीलाओं के स्मरण-कीर्तन आदि द्वारा वे सदा भगवद्-भावात्मक ही बनीं रहतीं, जिससे उन्हें विप्रयोग का स्मरण ही नहीं रहता था और वे सदा आनंदमग्न ही रहतीं और दुःखभान से रहित होकर उन्होंने यही मान लिया कि, प्रभु यहीं व्रज में ही स्थित हैं। किंतु इन गोपिकाओं को जब भगवान् का संदेश लाने वाले उद्धवजी ने उपदेश दिया, तो वे दुःख के अथाह सागर में डूब गयीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रकार का दुःख होने पर पूर्णनिरोध सिद्ध होता है अतः इस प्रकार के दुःख के अंतर्गत इक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करने वाले आचार्यचरणों ने कृपा करके - स्वकीयजनों को भी ऐसे ही दुःख की अपेक्षा करनी चाहिए अतः वे इसी दुःख की संभावना करें- यह कहा है। ॥ १॥

एवं तेषां दुःखं सम्भाव्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तद्दुःखानुभवे सम्भावयन्ति गोकुल इति।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ २॥

तद्दुःखहेतुकप्राकट्यानन्तरं महोत्सवादिबाल्यमारभ्य प्रेङ्खपर्यङ्कान्दोलनादिरिङ्गणक्रीड़ादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतयावत्केलिवत्सगोचारणान्तनिलायनप्रभृतिवेणुगीतव्रतगोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपूरकं तथा। तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरेण तदात्मकतया दुःखभानाभावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्रीस्वामिनीनां तथा सर्वेषां व्रजवासिनां च श्रीगोकुले यत्सुखं सम्यगनिर्वचनीयमभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यतीति पूर्वोक्तरीत्यैव तदभिलाषोपेक्षित इति भावः। यद्यप्यतिदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांस्तथाधुनापि करिष्यतीति ज्ञापनाय भगवत्पदम्॥ २॥

इस प्रकार आचार्यचरण उन भक्तों के दुःख की बात कह कर उस दुःख के पश्चात् उसमें रहने वाले अनिर्वचनीय उस सुख को भी बता रहे हैं, जब वे उपर्युक्त दुःख का अनुभव करेंगे। इसे आपश्री **गोकुल** इत्यादि शब्दों से अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

अपने भक्तों के दुःख को दूर करने के लिये प्रभु प्रकट हुए और उनके प्रकट होने के पश्चात् प्रभु के जन्म होने का महोत्सव, उनकी बाल्यावस्था में उनका पलने में झूलना, घुटनों चलने से लेकर दानलीला, दूध-दही की चोरी तक की लीलाएँ इत्यादि जो भी प्रभु की क्रीड़ाएँ हैं अर्थात् उनका गाय-बछड़ों को चराने ले जाने तक की लीलाओं का सुख ; प्रभु का आँख-मिचोली खेलना, वेणुगीत के प्रकरण में कही उनकी लीलाएँ ; गोपिकाओं ने जब कात्यायनी-व्रत किये थे और जब प्रभु ने उन्हें प्रकट होकर सुख

दिया था ; और गोवर्धन पर्वत उठाना एवं रासलीला तक की भक्तों के अपने-अपने मनोरथों को पूर्ण करने वाली भगवान् की जो लीलाओं का सुख है - आचार्यचरण उन सुखों की प्रार्थना कर रहे हैं। और इन लीलाओं के पश्चात् प्रभु का विप्रयोग होने पर श्रीगोपीजन एवं समस्त व्रजवासी गोकुल में उनकी उन-उन लीलाओं के स्मरण द्वारा भगवदात्मक ही हो गये और उन्हें प्रभु के विप्रयोग के दुःख का भान भी न रहा। अतः विप्रयोग की ऐसी अवस्था में विप्रयोग के दुःख का अनुभव न करके प्रभु को पहले की तरह अपने निकट ही समझते हुए उन्हें जो संयोग-विप्रयोग मिश्रित सर्वविलक्षण एवं अवर्णनीय सुख प्राप्त हुआ, वैसे सुख की प्राप्ति के लिये आचार्यचरण यहाँ कह रहे हैं कि- क्या प्रभु वैसा सुख मुझे कभी देंगें ? सो, निरुद्धभक्तों को भी ऊपर कही रीति अनुसार ऐसे ही सुख-दुःख की प्रभु से अभिलाषा करनी चाहिए, यह भाव है। वैसे इस प्रकार का भगवत्सुख प्राप्त होना अति दुर्लभ है, तथापि प्रभु तो सर्वसामर्थ्यवान हैं अतः जैसे उन्होंने पहले व्रजभक्तों पर स्वयं कृपा की थी, उसी प्रकार अब भी करेंगे, यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने "भगवान्" शब्द का प्रयोग किया है ॥ २ ॥

एवं निरुद्धानां दुःखसुखाभिलाषं स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशसुखानन्तर विप्रयोगजनिते दुःखेपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कश्चनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति उद्धवागमन इति।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ ३॥

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्प्रेषितगृहसेवकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च प्रियकृतस्वस्मरण-जनितौत्सुक्यविशेषणोत्सवो भवतीती लोकरीतिः, प्रकृते तथोद्धवस्य भगवद्भावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः सुतरामलौकिकत्वेन महान्यथा जातः, सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकवेद्यत्वेनाशक्यनिर्वचनमुक्तम्। कुत्रेत्याकांक्षायामाहुः वृन्दावने गोकुले वेति। वेति चार्थे। तेन वृन्दावने श्रीस्वामिनीनां गोकुले श्रीमातृचरणानामिति विवेकः। तथा मे मनसि कदापि भविष्यतीति तथापेक्षित इत्यर्थः।

निरुद्धों को होने वाली इस सुख-दुःख की अभिलाषा का अपने-आप में निरूपण करके अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में यह बता रहे हैं कि, ऐसे सुख के पश्चात् आने वाले विप्रयोग के दुःख में भी एक विलक्षण सुख देने वाला कोई उत्सव मन में उत्पन्न होता है। उस उत्सव को आपश्री **उद्धवागमने** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जिस प्रकार परदेश गये हुए अपने किसी प्रिय व्यक्ति के द्वारा भेजा हुआ कोई सेवक अपने घर आता है, तो उसके माता-पिता आदि को उत्सुकता से भरा एक विशेष उत्सव मन में उत्पन्न होता है, विशेषकर उसकी प्रिया को। उसे उत्सुकता भरा इक ऐसा विशेष मनोरथ होता है कि, मेरे प्रिय ने मेरा स्मरण करके मेरे लिये संदेश भेजा -ऐसा लोक में प्रचलन है। उसी प्रकार यहाँ भगवद्भावपूर्वक सर्वदा उत्सवरूप प्रिय का संदेश लाने वाले भगवदीय उद्धवजी के आगमन पर जो गोकुल में उत्सव हुआ, वह भी अत्यंत अलौकिक होने के कारण महान उत्सव हुआ। महान भी नहीं अपितु आचार्यचरण उसे सुमहान कह रहे हैं क्योंकि ऐसा उत्सव इतना विलक्षण है कि, केवल खुद अनुभव करने पर ही जाना जा सकता है। अतः सुमहान पद से आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, ऐसे उत्सव को प्राप्त करना अशक्य है एवं इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उत्सव कहाँ हुआ ? तो कह रहे हैं कि - वृंदावन एवं गोकुल में हुआ। "वा" शब्द यहाँ "अथवा" के अर्थ में न होकर "और" के अर्थ में है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, वृंदावन में गोपीजनों को सुख हुआ एवं गोकुल में श्रीयशोदाजी को सुख हुआ - यह विवेक समझना चाहिए। आचार्यचरण कह रहे हैं कि, ऐसा उत्सव मेरे मन में कब होगा- यह अर्थ है।

उत्सवस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्येवाभिलाष उक्तः। अत्रायं भावः। भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षात्भगवानेवागत इति तादृशोत्साहः सर्वथापेक्षितः, नो चेत् , तत्त्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः। एते तु सर्वथा प्रपन्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्धवस्यागमने प्रथमं तत्स्वरूपदर्शनेत्र कोयं भगवद्वेशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठारूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः,तत्रापि परमभक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, अहो महद्भाग्यमस्मदीयं यतोऽस्मासु तत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमत्रागतः प्रेषितो वा, नो चेद्भगवदीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत्। तेन प्रभुकृपाप्यस्मासु भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्तत्कृपाभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति। किञ्च, तद्गृहमेव न भवति यत्र

भगवदीयो नायाति, यतस्तदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशादुद्धवेऽपि तत्सम्बन्धित्वजनितनिरुपधिस्नेह-वात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्सत्कारादिकरणे परमोत्सवो जातः। क्वचिदित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम्। एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धाभावजनितदुःखं सर्वदापेक्षितम् , भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोप्यपेक्षितः। एवं सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति भावोपि ज्ञाप्यते॥ ३॥

उत्सव तो मन में होने वाले उत्साहरूप मन का धर्म है, अतः आचार्यचरणों ने मन की ही अभिलाषा व्यक्त की है। यहाँ भाव यह है कि, भगवदीय तो वही है जिसे किसी भगवद्-संबंधित व्यक्ति के आने पर ऐसा लगे जैसे भगवान् ही आये हों अतः उसे ऐसा उत्साह तो होना ही चाहिए। यदि न हो तो वह भगवदीय ही नहीं है, यह सिद्धांत है। ये व्रजवासी तो सभी प्रकार से शरणागत परमभगवदीय हैं अतः सर्वदा उत्सवरूप उद्धवजी के आगमन पर उन्हें देखते ही प्रथमतया व्रजवासियों के मन में "यह भगवद्वेशधारी कौन है?" इस प्रकार विस्मयता से उत्कंठारूप उत्सव जागा। इसके पश्चात् जब उन्हें यह निश्चित् हो गया कि यह भगवदीय हैं, तब उन्होंने यह सोचा कि हमारे प्रिय से संबंधित कोई हमारे घर आया है। वह भी कोई परमभक्त एवं प्रभु का निकटवर्ती जान पड़ता है। उन्होंने सोचा कि, अरे ! हमारे कैसे बड़े भाग्य हैं कि, ऐसे भगवदीय हमें भगवान् से संबंधित जानकर यहाँ आए हैं अथवा तो भेजे गये हैं। यदि ऐसा न होता तो, क्यों कोई भगवदीय भगवान् को छोड़ कर अन्यत्र भटके ? इससे लगता है कि, हम पर भी प्रभुकृपा अवश्य होगी ही। यदि भगवत्कृपा हम पर न होनी होती, तो हमारे यहाँ किसी भगवदीय का आना ही संभव न होता। वह घर घर ही नहीं है, जहाँ भगवदीयों का आना न होता हो। अतः जहाँ भगवदीय का आना हुआ है, वहां भगवान् भी अवश्य पधारेंगे- यह सब सोच कर प्रभु के स्नेह के वशीभूत होकर व्रजवासियों को उद्धवजी के आगमन पर भी प्रभु-संबंधित होने के कारण निरुपधि-स्नेह, वात्सल्य के द्वारा उत्साह में भरकर उनका सत्कार-आदि करने में परमोत्सव हुआ। क्वचित् शब्द का अर्थ यह है कि, मन में ऐसा उत्सव होना बड़ी दुर्लभ बात है। इसी तरह आधुनिक निरोधमार्गीयों को भी भगवद्-संबंध के अभाव से उत्पन्न हुआ दुःख भी सर्वदा होना ही चाहिए एवं किसी भगवदीय के आगमन पर ऐसा ही उत्सव होना चाहिए। इस प्रकार सभी तरह से चित्त-आदि का भगवान् में निरोध होने पर उस निरोध द्वारा भगवान् साक्षात् प्रकट होकर सुख भी देते हैं, यह भाव बता रहे हैं॥ ३॥

ननु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन चित्तनिरोधेपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उत्कर्षस्तत्राहुः **महतामिति**।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि॥ ४॥

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दानुभावको महानुत्सवो भवति सर्वदा भगवदावेशात्। स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरङ्गास्ते भक्ता महान्तः, तेषां कृपया यावद्भगवान् दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दास्यति, तावत्तस्योद्भूतप्रचुरभावैर्भगवदीयैः सह कीर्त्यमानो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं स्वस्वरूपे विधाय सुखाय भवति, न दुःखायेति। हृदयस्थ एव तत्तदिन्द्रियेषु स्वानन्दं पूरयतीत्यर्थः। यत आनन्दसन्दोहरूपः। यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यं, नान्यदिति ज्ञापितं भवति। अनेन तद्दुःखमपि रसभावात्मकमानन्दात्मकम् , न तु लौकिकविषयात्मकम्। यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्मकत्वं, तत्र सुखस्यानन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम्।

अब यहाँ यह शंका होती है कि, ज्ञानमार्ग में तो चित्त का निरोध हो जाने पर आत्मसुख होता है, किंतु यहाँ पुष्टिमार्ग में तो दुखित होकर चित्तनिरोध हो जाने पर भी जीव दुःखी ही रहता है, फिर निरोध का उत्कर्ष ही क्या हुआ ? इस शंका का समाधान आचार्यचरण **महतां** इत्यादि शब्दों से अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

जिन लोगों को भगवदीयों के दर्शन मात्र से परमानंद का अनुभव कराने वाला महान उत्सव होता है, क्योंकि वे सर्वदा भगवदावेश में रहते हैं , वे स्वयं भी उत्सवरूप एवं भगवान् के अंतरंग होते हैं। वे भक्त महान होते हैं। ऐसे भक्तों की कृपा से भगवान् जिस समय दया करेंगे, अर्थात् कृपापूर्वक प्रकट होकर अपने स्वरूपानंद का दान करेंगे, वह समय आने तक प्रचुरभाव

वाले भगवदीयों के संग कीर्तन करने से प्रसन्न हुए भगवान् अंतःकरण में साक्षात् प्रकट होकर उस भक्त की समस्त इन्द्रियों की आसक्ति अपने स्वरूप में लगा कर सुखकारी होते हैं, तब वहाँ दुःख नहीं होता। भक्त के हृदय में विराजकर भगवान् उसकी समस्त इन्द्रियों को अपने आनंद से पूरित कर देते हैं, यह अर्थ है। क्योंकि भगवान् स्वयं आनंदघन-स्वरूप हैं। जैसा उनका आनंदमय स्वरूप है, वैसे उनके गुण भी आनंदमय हैं। अतः कीर्तन द्वारा भी वे प्रसन्न होकर आनंद देने वाले हैं, इस कारण भक्त को भगवद्गुणगान ही करना चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं। इससे वह दुःख भी रसभाव से परिपूर्ण आनंदात्मक होगा, लौकिक-विषयात्मक नहीं। जहाँ दुःख भी रसानंदात्मक है, वहाँ सुख भी आनंददायी होगा, इसमें क्या कहना शेष रह जाता है।

किञ्च, अत्र प्रभुदयायां हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छब्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते। यतोयं रसस्तासामेव, भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव सर्वं भविष्यतीति सूचितम्। अत एव "तद्द्वारा पुरुषे भवे"दित्यत्र "तासामनुग्रहद्वारे"त्युक्तम्। अथवा तद्भावस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पदं दत्तमिति ज्ञायते। तेनाधुनिकानां श्रीमदाचार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः॥ ४॥

और, यहाँ प्रभुदया का मूलकारण महत्-कृपा बताई गयी है अतः "महत्" शब्द से तात्पर्य गोपिकाएँ ही हैं, यह जान पड़ता है। अर्थात् प्रभुकृपा होने में मूलकारण गोपिकाओं की कृपा है क्योंकि इस रस का अनुभव तो उन्हें ही है, स्वयं भगवान् भी उनके अधीन होकर ही इस रस का अनुभव करते हैं। अतः यदि गोपीजनों की कृपा न हो, तो प्रभु की दया भी नहीं हो सकती, सो गोपिकाओं की कृपा द्वारा ही सभी कुछ होगा। इसी कारण आचार्यचरणों ने सुबोधिनी (१०-२६ ; का०-३) में "गोपिकाओं के माध्यम से ही गोपों को भजनानंद की सिद्धि होगी" यह कहा है। श्रीप्रभुचरणों ने भी इस वाक्य पर अपनी टिप्पणी में "उन गोपीजनों की कृपा द्वारा पुरुषों को भी भजनानंद प्राप्त होगा (१०-२६ ; का०-३)" यों कहा है। अथवा तो ऐसा अर्थ कर लें कि, आचार्यचरण गोपिकाओं के भाव के स्वरूप हैं अतः **महत्** शब्द से उन्होंने स्वयं अपने आप का ही सूचन दिया है, यह जान पड़ता है। अतः आधुनिक पुष्टिमार्गीयों को आचार्यचरणों की कृपा द्वारा ही प्रभु कृपा करके आनंद का दान करेंगे, यह भाव है॥ ४॥

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव क्रियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु को विशेषः, तत्राहुः महतामिति।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥ ५॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया स्वभावदानात्मिकया कृत्वा यथा कीर्तनं निरोधमार्गीयाणां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोच्छलितरसेन सकलेन्द्रियाणां स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं तदानन्दमग्ना एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना न गच्छतीति सदेत्युक्तम्। तथा लौकिकानां प्रमाणधर्मनिष्ठानां तादृग्भावाभाववतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तथारूपप्राकट्याभावात्तत्कीर्तनं न तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः। तत्र दृष्टांतः स्निग्धभोजनेति। एकं स्निग्धभोजनं, अन्यद्रूक्षम्। स्निग्धभोजनं यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम् , लौकिकेषु तद्भावाभावाद्रूक्षत्वमेवेति तथा। अत्रैतन्मार्गीयभावाभाववत्सु भक्तेषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन यथा लौकिकालौकिकयोर्यावत्तारतम्यं, तावत्तारतम्यमेतयोरपीति ज्ञाप्यते। एवं सति निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः॥ ५॥

किंतु प्रश्न यह उठता है कि, भगवद्गुणगान तो सभी करते हैं और उससे सभी को सुख मिलता है, फिर निरुद्धजीवों के गुणगान में ऐसी क्या विशेष बात है ? इसका समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक में **महतां** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

निरुद्धजीवों द्वारा किये गये गुणगान में विशेषता यह है कि, गोपीजनों की कृपा द्वारा अर्थात् उनके जैसा भगवद्-स्वभाव का दान पाकर निरुद्धमार्गीयों को जिस प्रकार से प्रभुकीर्तन सुखदायी होता है, वैसा दूसरों को सुखदायी नहीं लगता क्योंकि परस्पर गुणानुवाद में उच्छलित रस द्वारा उनकी समस्त इन्द्रियाँ भगवद्-स्वरूप में निरुद्ध होने के कारण प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदानंद में ही मग्न रहती हैं अतः वह भगवद्-रस कभी मिटता ही नहीं। इसी कारण आपश्री ने सदा पद का प्रयोग किया है। ऐसा सुख प्रमाणधर्म के आग्रही एवं ऐसे पुष्टिभाव से रहित ज्ञानमार्गीय भक्तों को भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि उनके कीर्तन से भगवान का वैसा रूप प्रकट नहीं होता जैसा ऊपर बताया गया, यह अर्थ है। इसमें दृष्टांत देते हुए आचार्यचरण **स्निग्धभोजन** इत्यादि शब्दों से कह

रहे हैं। एक भोजन स्निग्ध होता है और दूसरा रूखा। जिस प्रकार से मालदार भोजन समस्त इन्द्रियों को सुखदायी होता है, वैसा सुखदायी रूखा-सूखा भोजन नहीं होता। अन्य दूसरे लौकिकजीवों में गोपीजनों का मधुरभाव नहीं होता अतः उनके कीर्तनों में रूक्षता ही बनी रहती है। यहाँ पुष्टिमार्गीयभाव से रहित ज्ञानी एवं भक्तों को आपश्री ने लौकिक कहा है अतः समझना चाहिए कि लौकिकता एवं अलौकिकता में जो भेद है, वही भेद लौकिक कीर्तन करने वालों एवं पुष्टिमार्गीय कीर्तन करने वालों में है। इस प्रकार आपश्री ने निरुद्धजीवों के कीर्तन में महान उत्कर्ष कहा है ॥ ५॥

ननु सुखदत्वेपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽत्यन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः प्रमाणसिद्ध इति चेत्तत्राहुः गुणगान इति।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविंदस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य **गुणगाने सुखावाप्तिर्यथा** निरुद्धानां जायते प्रकर्षेण, **तथा** पूर्णज्ञानिनांतत्राप्येकान्तभक्तानां **शुकादीनामात्मनि** आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, **कुतोन्यतः** भक्तिरहितेष्वित्यर्थः। एवेति निश्चयार्थः। गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राकट्यजनित एवेति ज्ञेयम्।

यह तो ठीक है परंतु फिर भी प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, भगवद्-कीर्तन भले ही सुखदायी होता हो किंतु निरुद्धजीवों को दुःख तो सदा बना ही रहता है, फिर उन्हें गुणगान में कौन सा उत्कर्ष सिद्ध हुआ ? उसकी अपेक्षा तो ज्ञानियों की समस्त इन्द्रियाँ आदि आत्मा में लय हो जाने पर अत्यंत दुःख की संभावना से रहित उन्हें आत्मसुख का अनुभव तो मिलता ही है, जिसकी सर्वोत्कृष्टता प्रमाणसिद्ध है। फिर निरुद्धजीवों के गुणगान का अनुकरण कोई क्यों करे ? यह शंका होने पर आचार्यचरण **गुणगान** शब्द से समाधान कर रहे हैं।

इसके प्रत्युत्तर में यह समझना चाहिए कि रसात्मक लीलाविशिष्ट गोकुल के स्वामी श्रीकृष्ण के गुणगान में जिस प्रकार का सुख निरुद्धजीवों को प्राप्त होता है, वैसा सुख पूर्णज्ञानी और वह भी शुकदेवजी जैसे एकांतवासी भक्तों की आत्मा में भी प्राप्त नहीं होता अर्थात् आत्मसुखानुभव की दशा में प्राप्त नहीं होता, फिर अन्य भक्तिरहित जीवों को तो कहाँ प्राप्त होगा, यह अर्थ है। एव शब्द से आचार्यचरण उक्त बात की दृढ़ता सिद्ध कर रहे हैं। निरुद्धजीवों को भगवद्गुणगान में जो प्रकर्षसुख प्राप्त होता है, वह उस गुणगान से प्रसन्न होकर प्रभु के साक्षात् प्रकट होने के कारण ही है।

यद्यपि श्रीशुकैरेवेयं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात, इति मुख्यतया शुकपदमेवादौ दत्तम्। एवं सति तत्कृपयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा। तत्रैतद्दुःखमेव साधकं इति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम् , नान्यस्येति। यत्रात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम् , तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्षः इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

यद्यपि श्रीशुकदेवजी ने प्रभु की लीला गायी है और वे स्वयं भी भक्तिरस से परिपूर्ण हैं, किंतु ऐसे आनंद का अनुभव तो उन्हें भी नहीं हुआ अतः आचार्यचरणों ने यहाँ मुख्यरूप से शुकदेवजी का ही उदाहरण दिया है। अतः सिद्ध होता है कि गोपीजनों की कृपा से ही ऐसा आनंद प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। अतः समझना चाहिए कि यह दुख ही भगवद्-प्राप्ति का साधक और यही परम पुरुषार्थ है, अन्य नहीं। तो, जहाँ आत्मसुख की अपेक्षा यह दुख ही सर्वोत्कृष्ट हो, वहाँ निरुद्धों के भगवद्गुणगान में प्राप्त होने वाले सुख के उत्कर्ष की बात ही क्या कहनी ?॥ ६॥

ननु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति भगवान् , किं वा कदापि बहिः सुखमपि प्रयच्छति, तत्राहुः **क्लिश्यमानानिति**।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

एवं **क्लिश्यमानान्** साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितप्रचुरार्त्या प्रतिक्षणमूर्छाजागरणाद्यवस्थाभेदेनानिशं क्लेशानुभवं कुर्वतः स्वीयान् **जनान् दृष्ट्वा** प्रभुर्यदा **कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं** सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया

सर्वांशेनानन्दपोषार्थं हृदिस्थमलौकिककामरूपं वा साक्षात्तत्स्वरूपं **बहिर्निर्गतं प्रकटं** करोति, बहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकटो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

ठीक है, चलो परम पुरुषार्थ होने के कारण भगवान् निरुद्धजीवों को **विरहात्मकरूप** से सदा दुःखी ही रखते हैं, परंतु क्या वे प्रकटसुख भी देते हैं या नहीं ? इसे आचार्यचरण **क्लिश्यमानान्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि साक्षात् भगवद्-स्वरूप से संबंध होने की अभिलाषा की प्रचुर आर्ति द्वारा भगवद्-विरह में प्रतिक्षण मूर्छा-जागरण की अवस्था से दिन-रात क्लेश का अनुभव करने वाले अपने स्वीयजनों को देखकर प्रभु जब कृपायुक्त होते हैं, तब सदानंदस्वरूप भगवान् उसकी समस्त इन्द्रियों में भावात्मकरूप से सर्वांश में आनंद से पोषित करने के लिये अपना अलौकिक कामरूप अथवा अपना साक्षात् स्वरूप उस भक्त के हृदय से बाहर प्रकट कर देते हैं, यह अर्थ है। उसे बाहर आनंद देने के लिये प्रभु उसके हृदय से बाहर प्रकट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमयस्येति।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥ ८॥

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्तन्मयस्यापि कृपानन्दः सुतरां दुर्लभः। अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तथा। मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः।

इस प्रकार यह आनंद केवल भगवद्-कृपा से साध्य है , अतः अति दुर्लभ है - यह कहने के लिये आचार्यचरण **सर्वानन्दमयस्य** इत्यादि शब्दों से अगले श्लोक में कह रहे हैं।

ब्रह्मानंद पर्यंत जहाँ-जहाँ तक आनंद की गिनती हुई है, उन सभी आनंदों से भगवान् युक्त हैं तथापि उनमें से उनका कृपानंद प्राप्त करना जीव के लिये कहीं अधिक दुर्लभ है। अथवा **सर्वानन्दमयस्यापि** (सर्व +आनंदमयस्य +अपि) शब्द का अर्थ यों कर लें कि, सभी को आनंद देने वाले सर्वानन्दमय भगवान् का कृपानंद प्राप्त करना जीव के लिये दुर्लभ है। मुक्ति-आदि में भी जो आनंद प्राप्त होता है, वह आनंद इसी कृपानंद का अंश मात्र है। परंतु मुक्ति में प्राप्त होता आनंद साधनों से प्राप्त होता है और यह कृपानंद तो भगवद्-कृपा से सिद्ध होता है। क्योंकि जब तक भगवान् स्वयं इसका दान न दें, तब तक प्राप्त नहीं होता अतः यह और भी दुर्लभ है ;हर कोई इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा लभो लाभो यस्येति। समस्तसाधनासाध्यत्वादन्येषां दुर्लभः, तद्गतामेव सुलभ इति सूचितम्। तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः हृद्गत इति। तादृशदुःखजनिततापार्त्या मिथो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा हृद्गत एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः, तज्जनितोच्छलितरसाब्धिपूरेणान्तःपुष्टः सन् बहिः स्वस्वरूपं प्रकटीकृत्य जनान् स्वीयान् प्लावयते, तत्तद्रसाब्धितरङ्गेषु तरणं कारयति। यथा यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम्, तथा तथैव तेषु स्वानन्दं पूरयतीति भावः॥ ८॥

अथवा तो **सुदुर्लभः** शब्द का अर्थ यह हो सकता है कि, इसका अर्थ समझने के पूर्व यह समझें कि सुदुर्लभ(सु+दुर्+लभ)शब्द के लिये आगे एक बार तो टीकाकार "सु" का अर्थ "सुतरां" कर रहे हैं एवं "दुर्" का अर्थ "दुःखेन" कर रहे हैं। इसी के पश्चात् अथवा करके एक और अर्थ द्वारा "सु" का अर्थ "शोभनेन" शब्द से कर रहे हैं। अब कुल मिलाकर इन सभी का अर्थ यह होगा कि - ऐसा दुःख जो शोभनीय है, सुंदर है। अत्यंत दुःख (सुतरां दुःखेन से) अथवा सुंदर-शोभनीय दुःख (सुतरां शोभनेन से) जिस वस्तु को प्राप्त किया जाता है, वह वस्तु सुदुर्लभ है। समस्त साधनों से असाध्य होने के कारण अन्यों को प्राप्त होना तो दुर्लभ है अपितु भगवत्कृपा प्राप्त करने वालों को ही सुलभ है, यह सूचित होता है। अब वह कृपानंद प्राप्त कैसे हो, यह आचार्यचरण **हृद्गतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आचार्यचरण कह रहे हैं कि, ऐसे दुःख से उत्पन्न होने वाले ताप की आर्ति द्वारा भगवदीयों के परस्पर गुणानुवाद से अपने गुणों को सुनकर **हृद्गतः** अर्थात् जीव की समस्त इन्द्रियों में व्याप्त और उन भक्तों में उच्छलित रससागर से अन्तःकरण में संतुष्ट होकर प्रभु अपने स्वरूप को बाहर प्रकट करके निजजनों को रस से

सराबोर कर देते हैं। अर्थात् उस रससागर की तरंगों में भगवान् जीव को प्रवाहित कर देते हैं। विरह के कारण जैसे-जैसे जीव को समस्त इन्द्रियों में ताप होता है, वैसे-वैसे भगवान् उसी प्रकार से उसे अपने आनंद से पूरित कर देते हैं, यह भाव है॥ ८॥

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः अहमिति।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्॥ ९॥

अहं स्वयं साक्षात् प्रभुणा पूर्वं निरुद्धः, निरुद्धानां मार्गेऽङ्गीकृतः, पश्चाद्रोधेन गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणां रोधेन निरोधस्य पदवीं गतः, फलदशां प्राप्तः। निरुद्धेति पाठे निरुद्धानां पदवीं गतः, तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दानुभवं प्राप्तः। अतस्तदाज्ञया निरुद्धानामाधुनिकानां रोधाय तमेव निरोधं वर्णयामि, कथयामि। एतेन मदुक्तरीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम्। त इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्णयामीति कमपि भाग्यवन्तं प्रत्युक्तमित्यन्येषामानुषङ्गिकी शिक्षा सूचिता। किञ्च, यतोहं प्रभुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते॥ ९॥

अब आचार्यचरण ऐसा क्यों कह रहे हैं, उसका कारण अग्रिम श्लोक में **अहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, साक्षात् प्रभु ने मुझे पहले ही निरुद्ध कर दिया है और निरुद्धों के मार्ग में मुझे अंगीकार कर लिया है। इस रोध के द्वारा भगवद्गुणगान से मेरी समस्त इन्द्रियों का रोध प्रभु में हुआ एवं मैं निरोध की पदवी को प्राप्त हुआ अर्थात् पुष्टिमार्ग की फलदशा को प्राप्त हुआ। यदि यहाँ "निरोधपदवीं" के स्थान पर "निरुद्धपदवीं" पाठ मान लें तो अर्थ यह बनेगा कि- मैं निरुद्धों की पदवी को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् उन निरुद्धों के बीच रह कर उन्हें जो आनंद हुआ उसका अनुभव मैंने प्राप्त किया है। अतः भगवद्-आज्ञा से आधुनिक पुष्टिजीवों का रोध करने के लिये मैं उसी निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। आचार्यचरणों के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि, आपश्री द्वारा कही पद्धति से सर्वथा निरोध की सिद्धि होगी। यदि "तम्" पाठ के स्थान पर "ते" पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह बनेगा कि, आपश्री किसी भाग्यवान जीव को "मैं तुम्हारे लिये इस निरोध का स्वरूप कह रहा हूँ" इस प्रकार से कह रहे हैं। आपश्री के उस भाग्यवान जीव को समझाने के माध्यम से अन्यों को तो सहज ही यह शिक्षा प्राप्त हो जाती है, यह सूचित होता है। आचार्यचरण कह रहे हैं कि, चूँकि प्रभु ने मुझे साक्षात् निरुद्ध किया है अतः मैं निरोध का वर्णन कर सकता हूँ, यदि ऐसा न होता तो किसके वश की बात है जो निरोध का स्वरूप कह सके ?॥ ९॥

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः तस्मादिति।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः॥ १०॥

यस्मादेवं सर्वोत्कृष्टत्वेन पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः कृपानन्दः तस्मात् सर्वं परित्यज्यैतत्प्रापकाभावात् सर्वं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः उद्धूतभावाङ्कुरैः सर्वदा गुणा एव गेयाः, तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः। गुणास्तु तत्तल्लीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः सदानन्दपरैरिति। सदानन्दः साक्षाद्रसात्मकः पुरुषोत्तमः, तत्परैस्तन्निष्ठैः सद्भिः, न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः। रसस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रासादिलीलारूपा एव ज्ञेया इति सूचितम्। सदानन्दपरैस्तादृशैर्भगवदीयैः सहेति वा योज्यम्। तेन तादृग्व्यक्तिरिक्तैः सह न ज्ञेया इत्युक्तं भवति। तत्र कथने सर्वथा हानिरेवेति भावः।

इस प्रकार निरोध का स्वरूप कह कर अब आपश्री निरुद्धजीवों का अवश्यकर्तव्य अग्रिमश्लोक में **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री कह रहे हैं कि, यह कृपानंद सर्वोत्कृष्ट है, पराकाष्ठापन्न है, सर्वदुर्लभ है अतः उद्धूत-भावांकुर वाले निरुद्धजीवों को अन्य सभी वस्तुओं का परित्याग करके सर्वदा भगवान् का गुणगान ही करना चाहिए, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन कृपानंद की प्राप्ति नहीं करा सकते। निरुद्धजीवों का यह सहज धर्म है अतः निरोधसिद्धि की अभिलाषा रखने वालों का यही कर्तव्य है, अन्य कुछ भी नहीं। किंतु प्रश्न यह होता है कि, भगवान् की तो अनेक लीलाएँ हैं एवं तदनुसार अनेक गुण भी हैं। फिर किस प्रकार के गुणों का गान करें ? इस शंका के समाधान हेतु आपश्री **सदानन्दपरैः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सदानन्द का

तात्पर्य है - साक्षात् रसात्मक पुरुषोत्तम और तत्परैः का अर्थ है - केवल ऐसे रसात्मक पुरुषोत्तम के स्वरूप में निष्ठा रखने वाले, अन्य किसी स्वरूप में निष्ठा रखने वाले नहीं ; ऐसे लोगों को गुणगान करना चाहिए। यहाँ भगवान् के रसस्वरूप में निष्ठा रखने की बात कही गयी है अतः गुणगान भी भगवान् के रासलीलादिरूप रसात्मक ही करने चाहिए। वह भी सदानंद श्रीकृष्ण के स्वरूप में निष्ठा रखने वाले तादृशी भगवदीयों के संग गुणगान करना चाहिए। अतः जो ऐसे तादृशी न हों, उनके संग गुणगान नहीं करना चाहिए, यह कहा जा रहा है। यदि अभगवदीयों के संग गुणगान करेंगे तो सर्वथा हानि ही है, यह भाव है।

सर्वदेति क्षणमात्रमप्यन्यथाभावसम्बन्धगंधाभावार्थम्। ततः सच्चिदानन्दता भवति, सर्वत्र भगवदावेशात्तत्स्वरूपात्मकतैव भवेदिति भावः। अथवा सच्चिदानन्दता ब्रह्मभावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति सूचितम्। कुत्रापि स्वत इति पाठः। तदा सच्चिदानन्दता भगवद्धर्मरूपता, सा त्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानायासेनैव भवतीत्यानुषङ्गिकत्वमुक्तम्। यत्र ज्ञानमार्गीयपरमफलमपि गुणगानस्यानुषङ्गिकं फलम् , तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु वाच्यम्॥ १०॥

सर्वदा कहने का तात्पर्य यह है कि, क्षण मात्र के लिये भी भगवद्भाव के अतिरिक्त अन्यथासंबंध की गंध भी नहीं होनी चाहिए। इससे सच्चिदानंदता होती है और सर्वत्र भगवद्-आवेश के कारण सर्वत्र भगवान् की स्वरूपात्मकता ही दिखाई पड़ती है। अथवा **सच्चिदानंदता** का अर्थ है - ब्रह्मभावसंपत्ति प्राप्त होनी, जिससे जीव के अंतःकरण में साक्षात् पुरुषोत्तम के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त होती है, जीव का अंतःकरण अक्षरब्रह्म बन कर पुरुषोत्तम के विराजने का स्थान बन जाता है। कहीं-कहीं "ततः" के स्थान पर "स्वतः" भी पाठ है। ऐसे में इस पंक्ति का अर्थ यह करना चाहिए कि, भगवद्गुणगान से सच्चिदानंदता अर्थात् भगवद्-रूपता तो इस मार्ग में स्वतः अनायास ही हो जाती है, यह गुणगान का आनुषङ्गिक (गौण) फल कहा गया है। जहाँ ज्ञानमार्गीयों का परमफल भी भगवद्गुणगान का गौण फल है, वहाँ स्वयं गुणगान के साक्षात् फल की बात तो क्या कहनी !॥ १०॥

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषां साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः हरिणेति।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा ये विशेषेण त्यक्ताः, स्वानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाऽभावात् त्यक्ताः, ते तु भवसागरे मग्नाः, साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः। ये तद्दानेच्छया निरुद्धाः पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठभावैकसाधनाः, त एव तत्कृपया तादृशं मोदमायान्ति, बाह्याभ्यन्तरं रसपूर्णाः सन्तस्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्यहर्निशम् , क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः। अतोनिरुद्धानामेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यत इति सर्वं सुस्थम्॥ ११॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि, क्यों आचार्यचरण केवल निरुद्धजीवों को ही समस्त परित्यागपूर्वक भगवद्गुणगान का उपदेश कर रहे हैं, अन्य साधनों पर निष्ठा रखने वाले जीवों को क्यों नहीं ? ऐसा क्यों ? इस शंका का समाधान आपश्री अग्रिमश्लोक में **हरिणा** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि, सर्वदुःखहर्ता हरि ने जिनका विशेषरूप से त्याग कर दिया है अर्थात् अपना आनंद देकर जिनके दुःख दूर करने की उनकी इच्छा प्रकट न करके जिनका त्याग कर दिया है, वे तो भवसागर में डूब चुके हैं। अर्थात् भले ही वे पुष्टिमार्गीय साधनों से भिन्न इतर साधनों में प्रवृत्त हैं, तथापि उपर्युक्त आनंद तो उन्हें प्राप्त नहीं है अतः वे भवसागर में डूबे हुए ही हैं, यह भाव है। एवं वे जिन्हें प्रभु ने यह आनंद देने के लिये निरुद्ध किया है अर्थात् पुष्टिमार्ग में स्वीकार किया है और जिनके लिये एक मात्र भगवद्-स्वरूप में निष्ठा ही साधन है, वे ही भगवत्कृपा से वैसा आनंद प्राप्त करते हैं। वे बाह्याभ्यांतररूप से रसपूर्ण होकर इस आनंदसागर में डूबे रहते हैं, वह भी निरंतर। उनका आनंद क्षणमात्र के लिये भी भंग नहीं होता यह भाव है। अतः केवल निरुद्धजीवों को ही यह आनंद प्राप्त है, पुष्टिमार्ग से भिन्न इतर साधनों पर निष्ठा रखने वालों को नहीं। इसी कारण आचार्यचरण यदि केवल निरुद्धजीवों को ही यह उपदेश कर रहे हैं, तो यह उचित ही है॥ ११॥

निरोधलक्षणम् ।

ननु निरुद्धानामपि पूर्वस्थितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः संसारेति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नि द्वादश योजयेत् ॥ १२ ॥

निरुद्धार्थं केवलपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृतयोरप्रयोजकत्वादङ्गीकारस्वभावेन यथा स्वरूपे स्नेहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषो निवारणीय इति **संसारावेशदुष्टानां** तत्तद्विषयभोगादिषु अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तज्जनितबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखानामिन्द्रियाणां हिताय प्रीतये पूर्वोक्तस्नेहेन हेतुना कृष्णस्य सदानन्दस्य सर्ववस्तूनि प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुदायाभ्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनाया भूमीः समस्तस्वेन्द्रियविषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि द्वादश तत्र योजयेत् ।

किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, निरुद्धजीवों को भी संसार के झंझट हैं ही, तब उन-उन सांसारिक विषयों में आसक्त उनकी इन्द्रियों के लिये संसार भुलाकर प्रभु में चित्त लगना अशक्य जैसा प्रतीत होता है। और जब तक संसार का विस्मरण न हो जाय, तब तक भगवद्गुणगान में उनकी प्रवृत्ति होनी भी अशक्य ही है। इस समस्या का समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक में **संसार** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि अपने आप में निरोध करने के लिये प्रभु ने जिस जीव को केवल पुष्टिमार्ग में अंगीकार किया है, उस जीव की पुष्टिमार्ग से इतर अन्य साधनों में प्रवृत्ति या निवृत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अपितु भगवान् द्वारा अंगीकार करने के स्वभाव से ही उसकी जैसी स्नेहात्मिका प्रवृत्ति भगवत्-स्वरूप में होती है, वैसी विषयों में नहीं होती। किंतु सांसारिक लौकिकविषयों से तो इन्द्रियों का संबंध हुआ ही है, जिसका निवारण करना आवश्यक है अतः **संसारावेशदुष्टानां** का तात्पर्य यह है कि, उन सांसारिक विषयों के भोग में लिप्त होकर अहंताममतात्मक आवेश के कारण दुष्ट हुई इन्द्रियों को सांसारिक बंधनों के कारण यह आभास ही नहीं होता कि, यह संसार अंततोगत्वा दुःखकारी है अतः इन बंधनों का निवारण करने वाले भगवद्-धर्मों से विमुख हुई इन इन्द्रियों के हित के लिये भगवद्-प्रीति बढ़ाने के हेतु से **सर्ववस्तूनि** अर्थात् एकादश-इन्द्रियाँ एवं संपूर्ण स्वरूप को उनके प्रत्येक समुदायों द्वारा उन-उन हस्त-पाद-नेत्र आदि से प्रभुसंबंधी मनोरथों की भावना करके समस्त इन्द्रियों को भगवद्-विषयक वस्तुओं का केन्द्र बना कर आत्मासहित समस्त एकादश-इन्द्रियों को मिलाकर इन द्वादश-वस्तुओं को सदानंद-श्रीकृष्ण में योजित कर देना चाहिए।

यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरयम् , तथापि संसारावेशिनामतिक्लेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन ममापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिजं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मेभ्यः प्रत्यावर्त्य समस्तेन्द्रियाणि तत्र योजयेत्। यत्किञ्चित्सम्बन्धेनापि विघ्नो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः। किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा चातितुच्छं विषयं त्याजयित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि। तथा चोक्त"मक्षण्वता"मित्यस्य विवरणे "इन्द्रियवतामिदमेव फल"मिति, "भगवता सह संलाप" इत्यारभ्य "एवं तद्भावनं सदे"त्यन्तम्। अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्संख्यैवोक्ता। एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मेभ्यः परावर्त्य तानि भगवति योजनीयानीति शिक्षा सूचिता। एवं योजनेन [1]तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात् तद्गुणेष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत् , न त्वन्यत्रेति भावः ॥ १२ ॥

यद्यपि निरुद्धजीव को भगवान् के प्रति अपने स्नेहस्वभाव के कारण ही उसकी समस्त इन्द्रियों में भगवदासक्ति होती है, यह निरोध के नियम की विधि है, तथापि संसारवेशियों के अति क्लेश को देखकर संसार से संबंध होने से "मुझको भी क्लेशरूपी दुःख होगा, भगवद्-स्नेह से उत्पन्न होने वाली आसक्ति के द्वारा होने वाला सुख प्राप्त नहीं होगा" इस प्रकार के भय को मन में रखते हुए उन सांसारिक धर्मों से इन्द्रियों को मोड़कर सभी को सदानंद श्रीकृष्ण में जोड़नी चाहिए। तात्पर्य यह है कि, इस प्रकार से इन्द्रियों को प्रभु में जोड़ें कि यत्किञ्चित् संबंध से भी प्रभुभक्ति में विघ्न न आये। और भी, यह समझिये कि इन्द्रियों की अपने-

१. भक्ताविति पाठः।

अपने विषयों में प्रवृत्ति होनी तो सहज है, किंतु उनके अति तुच्छ विषयों को छुड़ाकर परमानंद के स्वरूपसंबंधी विषयों में उन्हें जोड़नी चाहिए। यही बात आचार्यचरणों ने "अक्षण्वतां(श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक के विवरण में "भगवान् के संग संवाद, उनका दर्शन, उनका मिलन, उनका स्पर्श, उनका आलिंगन, उनके अधरामृत का पान, उनके वेणुनाद का श्रवण - इन्द्रियधारियों का यही परमफल है और यही मोक्ष है(सुबो० १०-१८-७ ;का० ८-९-१०)" इन कारिकाओं में कहा है। इन कारिकाओं के अंतर्गत आचार्यचरणों ने इन्द्रियों के बारह प्रकार कहे हैं , जो प्रभु में जोड़े जा सकते हैं, इसी कारण यहाँ भी आपने बारह की ही संख्या कही है। अतः उपर्युक्त उदाहरण को ध्यान में रखते हुए आधुनिक जीवों को भी अपनी इन्द्रियों को सांसारिक धर्मों से मोड़कर उन्हें भगवान् में जोड़नी चाहिए, यह शिक्षा मिलती है। इस प्रकार से जोड़ेंगे तो भगवद्-विषयों में आसक्ति होने पर साक्षात् स्वरूप से संबंध का भले ही अभाव हो, तथापि भगवद्गुणों में आसक्ति होने के कारण भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आवेश नहीं होगा, यह भाव है॥ १२॥

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तत्तद्विषयेषु यत्किञ्चिदहन्ताममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तत्त्यागजनितक्लेशोऽपि तत्प्राप्त्यभावाद् भवेदिति कथं सुखम्? तत्राहुः गुणेष्विति।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १३॥

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरवैरिणस्तत्र प्रतिबन्धनिवर्तकस्य गुणेष्वाविष्टचित्तानां तेषां संसारः पूर्वोक्तस्तत्त्यागजनितक्लेशश्च तौ न स्याताम्। तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति, कुतस्तत्त्यागजक्लेशसम्भावनेति भावः। एतदेवोक्तं वेणुगीते "क्रीडास्तन्मयतां ययु"रित्यस्य विवरणे "जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्ती"ति।

ठीक है, मान लिया कि इन्द्रियों को उपर्युक्त प्रकार से भगवद्विषयों में जोड़ देने से अन्यत्र सांसारिक विषयों का आवेश नहीं रहता, परंतु फिर भी इससे पहले संसार में यत्किञ्चित् आसक्ति तो रही ही है, अतः उन-उन विषयों में कुछ न कुछ अंहताममतात्मक संसार का आवेश रहता ही है एवं उस संसार का त्याग करने से उत्पन्न क्लेश भी तो रहता ही है। क्योंकि साक्षात् भगवद्-प्राप्ति तो हुई नहीं है, फिर उसे किस प्रकार का सुख प्राप्त होगा ? इस शंका का समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक में **गुणेषु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार की आसक्ति द्वारा भगवद्गुणगान करने पर चित्त केवल भगवान् में ही आविष्ट रहता है अतः मुरवैरि-भगवान् अर्थात् संसार में होने वाले प्रतिबंधकों के निवर्तक भगवान् के गुणों में आविष्ट रहने वाले जीवों को संसार एवं उस संसार के त्याग से उत्पन्न हुआ क्लेश ; दोनों नहीं होते। प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवान् के गुणों में आविष्ट होने के कारण उनके पूर्व में कहे समस्त सांसारिक अध्यास ही नष्ट हो जाते हैं, फिर उनका त्याग और त्याग से उत्पन्न क्लेश की संभावना की बात ही कहाँ आती है ? यही बात आचार्यचरणों ने वेणुगीत में "गोपियाँ आपस में भगवद्-लीला का वर्णन करतीं और तन्मय हो जाती(श्री०भा० १०-२१-२०)" इस श्लोक के विवरण में "गोपियाँ भगवद्-चिंतन करते -करते क्रीडामय ही हो गयीं एवं आसक्तिभ्रम-न्याय से जाग्रत-स्वप्न अवस्था में भगवान् की क्रीड़ा का ही दर्शन करती रहती थीं(सुबो० १०-१८-२०)" यह कहा है।

ननु तथापि [1]पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामासक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत् , तत्राहुः हरिवदिति। पूर्वोक्तभोगासक्त्या संसार एव। अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता नित्यालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च, तथा तस्य सुखमप्यग्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव, न तु पूर्वसदृशं भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम्॥ १३॥

फिर भी एक प्रश्न यह होता है कि, इतना होने पर भी उस जीव की आसक्ति पहले तो सांसारिक विषयभोगों में ही थी अतः उसे शंका यह होती है कि, भगवद्गुणगान से प्राप्त होने वाला सुख भी क्या सांसारिक सुख जैसा ही होगा या कि फिर उससे भिन्न ? इसका समाधान आपश्री **हरिवत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि, पूर्व में कही भोगासक्ति से तो संसार ही मिलेगा किंतु यहाँ तो जैसे हरि सर्वदुःखहर्ता हैं और नित्य अलौकिक रसात्मक आनंदरूप हैं, वैसा ही उनका सुख

१. भगवद्विषयभोगे इति पाठः।

भी तुम्हें प्राप्त होगा, जो दुःखों की संभावनाओं से परे एवं संसार का निवर्तक है। वह सांसारिक सुख के समान तुच्छ नहीं है, यह भगवद्गुणगान की महद्-विलक्षणता आचार्यचरण यहाँ कह रहे हैं॥ १३॥

एवं सर्वेषां विषयवासनारहितदृढ़ासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः तदेति।

तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १४॥

एवं प्रचुरतापात्मकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः स्वरूपात्मकतारूपो यदा सिद्धयेत्तदा **दयालुत्वं** प्रभोर्भवेत्, स्वास्थ्यादिकरणेन प्रतिबन्धको न भवेदित्यर्थः। **अन्यथा** तादृशासक्त्यभावे **क्रूरता** निश्चिता। साक्षात्स्वीयत्वेनाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रभोराक्रोशो भवतीत्यपि क्रूरपदेन सूचितम्। ननु सर्वत्यागेन गुनगानमात्रप्रवृत्तौ कालकर्मादिककृतबाधः सम्भवेत्तत्राहुः **बाधशङ्केति**। बाधस्य शङ्कापि नास्ति। कुतो बाधः। अत्र गुणगान इत्यर्थः। सकलेन्द्रियेषु भगवत एवाविष्टत्वेन स्थितत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः, स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति नैव शङ्कोदयः। एतदेवोक्तं सन्न्यासनिर्णये "अत्रारम्भे न नाशः स्या"दित्युपक्रम्य "हरिरत्रे"त्यन्तम्। अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गीयसाधनेषु बहवो विघ्नाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते।

इस तरह विषयवासना रहित भगवान् में दृढ़ासक्ति रखने पर जो होता है, उसे आपश्री सभी को **तदा** इत्यादि शब्दों से उपदिष्ट कर रहे हैं।

आपश्री कह रहे हैं कि, जीव का प्रचुर तापात्मक भावासक्ति द्वारा समस्त इन्द्रियों का प्रपंच-अध्यासरहित पूर्णनिरोध अर्थात् भगवद्-स्वरूपात्मकरूप निरोध जब सिद्ध होता है, तब प्रभु की दयालुता प्रकट होती है। इसका अर्थ यह है कि, ऐसे विरहात्मक जीव का विरह देखकर भगवान् उस जीव का ताप दूर करके उसे स्वस्थता नहीं देते, क्योंकि जीव के इसी ताप के फलस्वरूप भगवान् का प्राकट्य होता है अतः भगवान् उसे स्वस्थ बनाकर भगवद्-प्राकट्य में प्रतिबंधक नहीं बनते। **अन्यथा** यदि जीव में प्रचुर तापात्मक भाव के द्वारा प्रभु में आसक्ति न जगे, तो भगवान् क्रुद्ध होंगे - यह निश्चित् होता है। जिस जीव को भगवान् ने साक्षात् अपना जानकर स्वीकार किया है, वह भगवान् को अभीष्ट उसके स्वधर्म का पालन न करे तो प्रभु का आक्रोश होता ही है, यह भी क्रूर पद से सूचित होता है। परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, सभी वस्तुओं का त्याग करके केवल भगवद्गुणगान में प्रवृत्त होने पर काल-कर्म इत्यादि के द्वारा बाधा उत्पन्न होगी कि नहीं ? इसका समाधान आपश्री **बाधशङ्का** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, यहाँ बाधा की तो शंका भी नहीं है फिर बाधा होनी तो दूर की बात है। **अत्र** शब्द का अर्थ है - यहाँ भगवद्गुणगान में बाधा की कोई शंका नहीं है। जब जीव की समस्त इन्द्रियों में भगवान् ही आविष्ट हो चुके हैं, तब उसे बाधा कौन कर सकता है ? स्वयं भगवान् भी बाधा नहीं कर सकते फिर अन्यों की तो बात ही क्या कहनी ? अतः यहाँ ऐसी शंका का कोई स्थान नहीं है। यही बात संन्यासनिर्णयग्रंथ में "भक्तिमार्ग में आरंभदशा में परित्याग करने में दोष नहीं है(सं०नि०-१८)" इस वाक्य से लेकर "हरि स्वयं भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, फिर अन्यों की तो बात ही क्या कहनी ?(सं०नि०-१९)" यहाँ तक के श्लोक में कही है। आचार्यचरणों ने यह कहा है कि- "यहाँ पुष्टिमार्ग में कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता" - इसका तात्पर्य यह है कि, अन्य दूसरे ज्ञानमार्गीय साधनों में तो अनेकों विघ्न होंगे, यह बताया जा रहा है।

ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वाद् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव, तच्च तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः **तदध्यास** इति। यथा ज्ञाने "सोह"मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादौ तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं "कृष्णोह"मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति। सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्या यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षात्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते। एतदेव "तन्मनस्का" इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम्॥ १४॥

किंतु अब यहाँ यह शंका यह होती है कि, जीव को भगवद्-स्वरूप से मिलने की अभिलाषा तो रहती ही है अतः उसका एवं भगवान् के बीच का भेद तो आया ही। और वह भेद इस कारण कि, उसके अहं का अभिमान तो विद्यमान है ही और वह अभिमान बाधक है। इसका समाधान कैसे हो ? इसका उत्तर आपश्री **तदध्यास** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि

जैसे ज्ञानमार्ग में "मैं ही ब्रह्म हूँ" यों स्फुरित होता है, वैसे यहाँ पुष्टिमार्ग में अपने समस्त देह-इन्द्रियों में भगवान् ही स्फुरित होते हैं और अपने इस स्वरूप के कारण ही हमें "मैं कृष्ण हूँ" ऐसा रूप सिद्ध होता है ; तब हम अपने आप को कृष्ण से भिन्न नहीं समझते। आचार्यचरणों ने **सिध्यति** कहा है, जिसका अर्थ होता है - "जीव ऐसी सिद्धि प्राप्त करता है" ; इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार जीव सांसारिक विषयों में रह कर संसार के ही अध्यास में रहता है, वैसे ही निरोध-अवस्था सिद्ध होने पर साक्षात् भगवद्-स्वरूप की ही स्फुरणा होती है, जीव का स्वभाव संसार से परावृत्त होकर भगवान् में लग जाता है, यह बताया जा रहा है। यही बात श्रीमद्भागवत में "गोपियों का मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनके रोम-रोम एवं उनकी आत्मा में वे कृष्णमय हो रही थीं। वे इतनी तन्मय हो गयीं थीं कि, उन्हें अपने शरीर की सुध भी नहीं थी(१०-३१-४४)" इस श्लोक के विवरण में देखनी चाहिए॥ १४॥

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिस्तत्राहुः भगवद्धर्मेति।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः।
गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्॥ १५॥

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य धर्माः गुणगानद्वारान्तःप्रविष्टास्तेषां सामर्थ्याद्विषये प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्यपि वा तादृशस्य विरागः स्थितोस्ति। स्थिर इति वा पाठः। विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे साक्षाद्भगवति निरुपधिस्नेहेन केवलतदीयत्वबुद्ध्यैव तथा प्रपन्नतेति "सन्त्यज्य सर्वविषया"निति निरूपणेन ज्ञायते। अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावतीति सर्वमवदातम्। तर्हि दुःखं कथं भवति? तत्राहुः गुणैरिति। हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणैः सुखस्पर्शान्न कर्हिचिद्दुःखभानम्। तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मकतया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः। तापात्मकं यद्दुःखं दृश्यते तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम्॥ १५॥

किंतु फिर भी यह शंका तो होती है कि, जीव में जब तक वैराग्य न जगे, तब तक पहले के प्राकृत विषयों के अध्यास की निवृत्ति होनी कैसे संभव है ? इस शंका का समाधान आपश्री **भगवद्धर्म** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इसका समाधान यह है कि, ऐश्वर्यादि समस्त गुणों से युक्त भगवद्-धर्म जो गुणगान द्वारा अन्तःकरण में प्रविष्ट हुए हैं, उनके सामर्थ्य से प्राकृत विषयों में विराग (वैराग्य) हो जाता है। अथवा इस पंक्ति का अर्थ ऐसे करें कि, सकलैश्वर्यादिगुणों से युक्त भगवद्-धर्म जब जीव के अंतःकरण में प्रविष्ट हो जाते हैं तब ऐसा जीव भगवान् तक को भूल जाता है, उसे भगवान् में विराग हो जाता है अर्थात् वो भगवद्-गुणों में ऐसा तन्मय हो जाता है कि, भगवान् प्रत्यक्ष होकर उसे सुख दे सकते हैं - यह भी भूल जाता है। ऐसे तन्मय भक्तों को विषयों में तो सर्वत्र वैराग्य ही रहता है, किंतु पराकाष्ठापन्न-अलौकिक-आनंदरूप साक्षात् भगवान् में उनकी ऐसी शरणागति श्रीमद्भागवत में गोपियों द्वारा कहे "हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणों में ही प्रेम करती हैं(१०-२९-३१)" इस वाक्य द्वारा जानी जा सकती है। अतएव फिर भगवान् भी स्वयं कृपा द्वारा जीव को वैसे आनंद का अनुभावन कराते हैं अतः ऊपर कहा गया सभी कुछ उचित ही है। किंतु प्रश्न यह होता है कि, फिर जीव को दुःख क्यों होता है ? इसका समाधान आपश्री **गुणैः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि समस्त दुःखहर्ता हरि के गुणगान के स्पर्श से किसी भी प्रकार के दुःख का भान होता ही नहीं। अन्तःकरण में भगवदानंद से पूर्ण जीव को सर्वदा भगवदात्मक बने रहने के कारण दुःख का भान होता ही नहीं; फिर दुःख की संभावना की बात ही कहाँ से आई ? आपको जो तापात्मक दुःख दिखाई दे रहा है, वह तो विरह का रसरूप है अतः वह सुखरूप ही है, दुःखरूप नहीं- यह जान लेना चाहिए॥ १५॥

अतःपरमुपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥ १६॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुखरूपत्वेन च ज्ञानफलस्याक्षरलय-पर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने महोत्कर्ष इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्भा-वरूपाङ्गीकारादारभ्य सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न त्वन्यत्। दृढासक्त्यनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव गुणगानं भविष्यति,

साम्प्रतं तदभावादत्र कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम्। तत्र प्रतिबन्धकरूपमान्तरं दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः अमत्सरैरिति। मात्सर्यं परोत्कर्षासहनं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम्। भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णनमशक्यम्, लोभे तु स्वार्थार्थमेवेति कुतस्तदावेशः, प्रत्युत सर्वथानुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां सर्वस्वहानिरेवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः। सदेति कार्यान्तरव्यासङ्गे भावशैथिल्याभावायोक्तम्॥ १६॥

इतने विवेचन के पश्चात् अब आचार्यचरण **एवं ज्ञात्वा** इत्यादि शब्दों से इस ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं।

समस्त इन्द्रियों द्वारा साक्षात् भगवद्-आनंद के आस्वादन की बात पूर्व में कही गई है। उस आनंद का साधन भगवद्गुणगान है, जो कि सुखरूप है। इसकी तुलना में ज्ञानमार्ग में प्राप्त होने वाला फल अक्षरब्रह्म की प्राप्ति तक ही सीमित है और उसके साधन भी बड़े कष्टसाध्य हैं अतः ज्ञानमार्ग की तुलना में इस मार्ग में कहे गये भगवद्गुणगान का उत्कर्ष कहीं अधिक है- यह जान कर निरुद्धजीवों को साक्षात् भगवद्भावरूप अंगीकार द्वारा सभी सांसारिक विषयों के परित्याग द्वारा भगवद्गुणगान ही करना चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान में दृढ़-आसक्ति होने के पश्चात् उस आसक्ति का स्वभाव ही ऐसा है कि, गुणगान स्वयं होने लगता है। चूँकि अभी साधनदशा है और अभी वैसी आसक्ति पनपी नहीं है अतः वैसी आसक्ति पनपाने के लिये क्या करना चाहिए, वह विधि आचार्यचरण यहाँ बता रहे हैं। गुणगान की प्रक्रिया में दो अन्दरूनी प्रतिबंधकरूप दोष हैं, जिनका सर्वथा त्याग करना चाहिए - यह आचार्यचरण **अमत्सरैः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मात्सर्य का अर्थ है - दूसरे का उत्कर्ष सहन न कर पाना और दूसरा दोष है - लोभ। ये दोष दूर करके गुणगान में प्रवृत्त होना चाहिए। यदि भगवदीयों के प्रति मात्सर्य रखेंगे तो उनसे सौहार्द नहीं रख पायेंगे और तब भगवद्गुणगान अशक्य हो जायेगा और लोभवृत्ति में तो केवल स्वार्थ ही स्वार्थ है, ऐसे में भगवद्-आवेश कहाँ संभव है ? और उल्टे स्वार्थ रखना तो सर्वथा अनुचित होने के कारण उसमें भगवद्भक्तों की सर्वस्व की हानि ही है अतः ये दो दोष सर्वथा त्याग देने चाहिए, यह भाव है। आचार्यचरणों ने यहाँ "सदा" भगवद्गुणगान करना कहा है और वह इसलिये ताकि अन्य दूसरे कार्यों में जुटे रहने से कहीं आपके भगवद्भाव में शिथिलता न आ जाय॥ १६॥

ननु श्रीमुखावलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसेवैव कर्तव्येति भक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः हरिमूर्तिरिति।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा॥ १७॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
वायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्॥ १८॥

अत्रेति प्रतिभाति। भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सवनिवाङ्गीकरोति। तेषां स्नेहरूपामानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम्। येषां साक्षात्पुष्टिमार्गे निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदात्व एवोद्भूतस्नेहभावाङ्कुराणां स्वरूपसम्बन्धाभिलाषेण "भगवता सह संलाप" इत्यादिरूपा भावनैव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनस्तत्परता भवतीति तद्रूपा मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजकत्वाभावात्तद्दार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम्। अत एव भगवद्वरणानन्तरमेवोद्भूतभावाभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्वं विहाय गुणगानमेव कृतमिति "भूयान्नन्दसुतःपति"रित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गीयशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन स्नेहानन्तरभावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तद्दार्ढ्यार्थं त्याग एवोक्तो भक्तिवर्धिन्यां "तादृशस्यापि"त्यारभ्य "त्यागं कृत्वे"तीति सर्वमनवद्यम्।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, सर्वप्रथम तो प्रभु के मुखारविंद का दर्शन-आदि ही मन में भगवद्भाव उत्पन्न कराता है अतः सर्वदा भगवत्स्वरूप की सेवा ही जीव का कर्तव्य है, यह हमारे भक्तिमार्ग का सिद्धांत है। और, यहाँ आचार्यचरण मुख्यरूप से केवल गुणगान के लिये ही आग्रह कर रहे हैं, वह क्यों ? इसका समाधान आपश्री **हरिमूर्तिः** इत्यादि शब्दों से अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

यहाँ इस संदर्भ में कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि, भगवान् जीव का उद्धार करने के लिये मर्यादा के द्वारा सभी का अंगीकार करते हैं। उन जीवों की स्नेहरूपा मानसीसेवा फलरूपासेवा है और उन्हें मानसीसेवा को सिद्ध करने के लिये मार्ग में

निष्ठा रखते हुए मानसी के साधन के रूप में तनु-वित्तजा सेवा करनी आवश्यक है। जिन जीवों का पुष्टिमार्ग में निःसाधन होने के कारण ही अंगीकार हुआ है, उनको तो उसी समय, भगवान् द्वारा अंगीकार किये जाने के साथ ही साथ भगवान् के प्रति स्नेहभाव का अंकुर फूट जाता है और मन में भगवद्-संबंधी अभिलाषा पनपने के कारण "भगवान के संग वार्तालाप(सुबो० १०-१८-८ ; का० ८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान् को देखने, स्पर्श करने जैसी भावना जाग जाती है। भावना तो मनोधर्म है। जब वे ऐसी भावना करते हैं तो मन की भगवत्परता सिद्ध हो जाती है और तब उन्हें भावनारूप मानसीसेवा सिद्ध हो जाती है। अतः मानसी की दशा में ऊपर कही तनुवित्तजासेवा का इस समय कोई प्रयोजन नहीं है अतः मानसी की दृढ़ता के लिये भगवद्गुणगान करना ही मुख्य है अतः आचार्यचरणों ने भी गुणगान के लिये ही कहा। इसी कारण भगवान् द्वारा वरण किये जाने के पश्चात् ही उत्पन्नभाववाली कुमारिकाओं ने अन्य पूजा-आदि छोड़कर भगवद्गुणगान ही किया। यह सभी कुछ श्रीमद्भागवत के "कुमारिकाओं ने एक महीने तक भद्रकाली की पूजा की, कि नंदनंदन श्रीकृष्ण ही हमारे पति हों(१०-२२-५)" इस श्लोक के अंतर्गत आचार्यचरणों ने विवृत किया है। और जो तनु-वित्तजा सेवा द्वारा साधनमार्ग से शरणागत होने वाले जीव हैं, उन्हें साधनरूप भगवत्सेवा करने के द्वारा भगवद्भाव की दृढ़ता के लिये भक्तिवर्धिनी में "तादृशस्यापि" से लेकर "त्यागं कृत्वा" यहां तक के वाक्यों में आचार्यचरणों ने त्याग ही बताया है अतः यह सभी कुछ उचित ही है।

किञ्च, पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन स्नेहभावजनितं तापात्मकं दुःखं जायते, तद्दुःखनिवृत्तिस्तु विरहानुभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वेनोक्तम्। तथा च यतस्तादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्वभावोद्भूतस्नेहभावाङ्कुरजनितमनोरथप्रकारेण हरिमूर्तिः सदा ध्येया भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्त्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं च गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः।

और भी, पहले जो हमने तनुवित्तजारूप साधनरूप सेवा करने के विषय में बताया, उससे तो भगवान् में स्नेह का भाव रखने से उत्पन्न हुआ तापात्मक दुःख प्राप्त होता है और उस दुःख की निवृत्ति तो भगवद्-विरह का दुःख अनुभव करने पर भगवद्गुणगान द्वारा ही होती है अतः आचार्यचरण यहाँ मुख्यरूप से गुणगान का ही उपदेश कर रहे हैं। और इसी ढंग से पुष्टिमार्ग में अंगीकार होने के पश्चात् मन में उद्भूत स्नेहभावांकुर से उत्पन्न भगवन्मनोरथ के प्रकार से मन में हरिमूर्ति सदा ध्यान में रहती है अतः पुष्टिमार्ग में अंगीकार होने पर उत्पन्न हुए ताप की निवृत्ति एवं उसकी दृढ़ता के लिये आचार्यचरणों ने भगवद्गुणगान ही करना कहा है।

तर्हि ज्ञानमार्गेऽपि ध्यानमेव क्रियते, ततो गुणगाने को विशेषस्तत्राहुः सङ्कल्पादिति। सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविविधमनोरथ-कदम्बादपि तत्र भावनायां भावात्मकतया साक्षात्प्रकटस्य भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमनुभूतं भवति, तथैव कृतिस्तदन्तिके गतिश्च, तथैव श्रवणं तत्कूजितानां, कीर्तनं भगवता सह संलापादिरूपं च तथा। पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमित्युक्तम्। तत्र तु प्रत्यक्षेऽपि आत्मनि न तथानुभवः। गाने तु सङ्कल्पमात्रादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन द्योत्यते। एवं भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय हरिमूर्तिरित्युक्तम्।

किंतु तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, ज्ञानमार्ग में भी तो ध्यान ही किया जाता है, तब फिर गुणगान की क्या विशेषता सिद्ध हुई ? इसका समाधान आपश्री **संकल्पात्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। गुणगान में विशेष यह है कि, मन में भगवत्संकल्प लेने से अर्थात् पूर्व में कहे विविध मनोरथों के समूह की मन में भावना करने से भावात्मकरूप से साक्षात् प्रकट हुए भगवान् का दर्शन, स्पर्श इत्यादि स्पष्टरूप से अनुभूत होता है। उसी प्रकार भगवान् की क्रियाएँ, उनके निकट जाना, उनके वेणुनाद का श्रवण करना, भगवान् के संग वार्तालाप करना, यह सभी कुछ स्पष्ट अनुभूत होता है। आपने जो पूर्व में ज्ञानमार्ग में बताए गये साधनों द्वारा ध्यान करने की बात कही थी, उसमें यह सभी कुछ अनुभूत नहीं होता, इसी कारण आचार्यचरणों ने "भगवद्गुणगान में यह सभी कुछ स्पष्टरूप से होता है" यों कहा है। वहाँ ज्ञानमार्ग में तो ज्ञानी को ध्यानावस्था में अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाने पर भी भगवान का वैसा अनुभव नहीं होता, जैसा ऊपर बताया गया है। गुणगान में तो केवल मन में भगवत्संकल्प ले लेने मात्र से भी भगवान् स्पष्टरूप से अनुभूत होते हैं, यह "अपि" शब्द से मालूम पड़ता है। इस प्रकार जीव द्वारा की गयी भावना में प्रकट होकर भगवान् जीव के तापात्मक दुःख हरते हैं, यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने **हरिमूर्तिः** शब्द का प्रयोग किया है।

ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति ''कृपायुक्तो यदा भवे''दित्यनेनोक्तम्, परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्वं हेतुत्वेनोक्ता ''महतां कृपये''त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन तत्कृपाभावे स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः पुत्र इति। यतः पूर्वोक्तभक्तास्तु

पराकाष्ठापन्नरसभक्तारो मात्सर्यादिदोषरहिता भगवत्कृपाविषयेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां तादृशे कृष्णप्रिये कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णास्य फलदानसमुखस्य प्रिये वा पुत्रे पुत्ररूपे रतिः प्रीतिरेव भवति। स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् [1]पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम्। तासां गुरुत्वं तु सन्न्यासनिर्णये "कौण्डिन्यो गोपिका" इति स्फुटीकृतम्।

किंतु इतना होने पर भी अब शंका यह होती है कि, उपर्युक्त सभी बातों की सिद्धि तो भगवद्-अंगीकार के द्वारा भगवान् की कृपा द्वारा होगी, जो "भगवान् जब कृपायुक्त होंगे" इस वाक्य से इसी ग्रंथ में पहले कहा गया है। परंतु प्रश्न यह होता है कि, उस भगवत्-कृपा में भी सर्वप्रथम तो गोपीजनों की कृपा होनी आवश्यक है, जो "महतां कृपया" इन वाक्यों से इसी ग्रंथ में पहले कही गयी है ; अतः भगवान् द्वारा अंगीकार किया जाना भी गोपीजनों की कृपा के अधीन ही है, तो गोपीजनों की कृपा के बिना भगवान् कैसे प्राप्त हो सकेंगे ? इसका समाधान आपश्री **पुत्र** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि, हमने पूर्व में जिन महत्-जनों की अर्थात् गोपीजनों की बात कही थी, वे भक्त तो परमकाष्ठापन्न भगवान् के रस के भोक्ता हैं, मात्सर्य आदि दोषों से रहित हैं एवं भगवद्-कृपापात्रों पर सहज वात्सल्य रखने वाले हैं अतः उनकी ऐसे कृष्णप्रिय पुत्र में प्रीति होती ही है। **कृष्णप्रिये पुत्रे** का अर्थ है - कृष्ण जिसे प्रिय हैं, ऐसा पुत्र ; अथवा फलदान करने को उन्मुख कृष्ण को प्रिय लगने वाला पुत्र। कारण कि जीव गोपीजनों के प्रिय-भगवान् में प्रीति रख रहा है अतः वे उस पर कृपा करके उसे अपने भाव का दान करतीं हैं, सो इस प्रकार भावदान के कारण वे गुरु सिद्ध हुईं और जीव उनका पुत्र सिद्ध हुआ। अतः आचार्यचरणों ने उसे पुत्र कह कर संबोधित किया है। गोपीजनों का गुरुत्व तो संन्यासनिर्णयग्रंथ में "कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता(सं०नि०-८)" इस श्लोक द्वारा भी बताया गया है।

किञ्च, यथा पुत्रस्य कामप्यार्तिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तद्दानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम्। अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविविधापराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम्। प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम्। "रतिर्हासश्चे"ति तद्रूपत्वं तस्याः स्पष्टम्। एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुष्ठूक्तं तथा। किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम्।

और भी, जैसे अपने पुत्र की किसी भी प्रकार की आर्ति को देखकर बड़े वात्सल्य से उसका समाधान किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी वैसी आर्ति देखकर वात्सल्यभाव से गोपीजन अपने भक्तों को अपने भाव का दान करतीं है, यह बताने के लिये उन भक्तों को आचार्यचरण ने पुत्ररूप कहा है। अन्यत्र लौकिक में भी जिस प्रकार अपने पुत्र के विविध अपराधों को देखकर भी उसके प्रति वात्सल्यभाव ही रहता है, उसी प्रकार यहाँ ऐसे गोपीजनों के कृपापात्र जीव पर भी उसके अपराधों की ओर दृष्टि न करके गोपीजनों को उसके लिये प्रीति ही बनी रहती है। गोपीजनों को जीव के प्रति होने वाली प्रीति भी कोई साधारण अर्थात् सांसारिक प्रीति न होकर भावात्मिका प्रीति ही होती है - यह बताने के लिये आपश्री ने रति पद का प्रयोग किया है। और "रतिहासश्च" इस वाक्य के द्वारा "रति" शब्द का अर्थ स्पष्टरूप से "भाव" ही किया गया है। ऐसे में गोपीजनों की कृपा भी उस तादृशीजीव पर होती है, जिससे गोपीजनों द्वारा प्राप्त किया गया भगवद्-रस वह भी प्राप्त करता है अतः यदि आचार्यचरण उन जीवों को गोपीजनों का पुत्ररूप कह रहे हैं, तो उचित ही है। और, जिस प्रकार गोपीजनों को ऐसे कृष्णप्रिय-पुत्र में पुत्रभाव होता है, वैसे ही उन निरुद्धजीवों को भी गोपिकाओं के प्रति मातृभाव रखना चाहिए, यह भी सूचित होता है।

अथवाऽत्रायमपि गूढ़ाभिसन्धिरनुमीयते। कृष्णप्रियास्तु बहुविधाः, परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूपं कृष्णस्यानन्दरसात्मकस्य प्रियत्वं श्रीमदाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु ,तद्धेतुकं साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तादृग्वात्सल्येनैतेष्वेव सम्भवति, नान्येषु। यतः श्रीमदाचार्याणामेव तद्भावात्मकत्वं तन्मध्यपातित्वं च विजयते। तथा च कृष्णस्य प्रिये वल्लभे मयि पुत्र इव रतिस्तेषां वर्तत इति मदङ्गीकृतेन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भावः।

अथवा तो यहाँ भी कुछ गूढ़-अर्थ प्रतीत होता है। कृष्ण को तो अनेक प्रिय हैं, परंतु स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतग्रंथ के श्लोकों में कहे कथनानुसार आनंदरसात्मक कृष्ण के प्रिय तो आचार्यचरण ही हैं, अन्य कोई नहीं। और, साक्षात् श्रीकृष्ण का आचार्यचरणों के प्रति ऐसे प्रेम का कारण यह है कि, आचार्यचरण गोपीजनों के भी प्रिय हैं और गोपीजनों का प्रेम आचार्यचरणों के लिये ही है

१. प्रियत्वमिति पाठः।

अन्य किसी के लिये नहीं क्योंकि गोपीजनों का भाव आचार्यचरणों में ही विद्यमान है एवं कृष्ण एवं गोपीजनों के मध्यपाती स्वरूप भी आप स्वयं ही हैं। अतः इस श्लोक का अर्थ यह हुआ कि, आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि- मुझ कृष्ण के प्रिय वल्लभ में गोपीजनों को पुत्र के जैसा स्नेह है अतः मेरे द्वारा जो पुष्टिमार्ग में अंगीकृत होगा, उसमें भी गोपीजनों को स्नेह अवश्य होगा। अथवा, यह अर्थ हो सकता है कि, आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि - मुझ कृष्ण के प्रिय वल्लभ में गोपीजनों की रति है- इस कथन का अर्थ यह है कि, चूँकि आचार्यचरण गोपीजनों के भाव से पूरित हैं और गोपीजनों के अंतर्गत ही हैं अतः आधुनिक जीवों को आचार्यचरणों की कृपा से ही गोपीजनों की कृपा प्राप्त होगी।

अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तत इति कथनात् स्वस्य तद्भावात्मकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चाधुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम्। एवं तत्कृपया जनितो रतिरूपो भावो निखिल प्राकृतांशं त्याजयित्वा क्रमेणालौकिकं साक्षाद्भगवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति सदृष्टांतं निरूपयन्ति वायुरिति। वायुः सर्वदेहेन्द्रियव्यापी भुक्तमात्रनिखिलवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण बहिरुत्सर्गेण शेषभावं सारांशं तनौ नाडीद्वारा तत्तदधिष्ठाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृतांशं त्याजयित्वा शेषभावं सर्वं भगवति नयेदित्यन्वयः। तनावित्युपलक्षणं, किन्तु देहप्राणेन्द्रियादिष्वित्यर्थः।

इस प्रकार आचार्यचरणों की कृपा से उत्पन्न हुआ रतिभाव संपूर्ण प्राकृत-अंश का त्याग करा कर क्रमशः साक्षात् भगवदात्मक-अलौकिक विषयों को जीव की इन्द्रियों में जोड़ देता है - इस बात को आपश्री दृष्टांतसहित **वायुः** इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार समस्त देह-इन्द्रियों में व्याप्त रहने वाली वायु भोजन किये गये समस्त वस्तुओं के मलांश को अधोद्वार से त्याग करा कर शेषभाग यानि सारांश को पूरे शरीर में नाड़ी के द्वारा शरीर के अधिष्ठानों को प्राप्त कराती है, उसी प्रकार आपश्री की कृपा से प्राप्त हुआ रतिभाव शरीर के समस्त प्राकृतांश का त्याग करा कर शेषभाव यानि समस्त अलौकिकभाव को भगवान् से जोड़ देता है। यहाँ तनौ (शरीर में) शब्द तो केवल उदाहरण मात्र है, तात्पर्य यह कि देह-प्राण-इन्द्रिय इत्यादि सभी में वह रतिभाव अलौकिकता का संपादन कर देता है।

अथवा ज्ञानमार्गीयस्य योगादिधारणायां प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतविषयग्रहणादिरूपं मलांशं त्याजयित्वा वायुः शेषभावभूतं प्राकृततद्भिन्नीभूतं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति तथात्रापि स भाव इति ज्ञेयम्।

अथवा तो "वायु" के उदाहरण को प्राणायाम की प्रक्रिया से समझें। जैसे ज्ञानमार्गी योग-आदि ध्यान-धारणा समाधि में प्राणायाम-आदि करने में वायु द्वारा क्रिया करता है, वैसे प्रकार से समझने का प्रयास करें। हमारी इन्द्रियों द्वारा प्राकृत-सांसारिक विषयों को ग्रहण करना ही तो मलांश को ग्रहण करना है अतः जैसे प्राणायाम करनेवाला प्राणायाम-आदि करने की प्रक्रिया करने में वायु द्वारा उन मलांशों का त्याग करवा कर शेष बचे अप्राकृत-अलौकिक आत्मा एवं देह-इन्द्रियों को परमात्मा से जोड़ देता है, वैसे ही आचार्यचरणों की कृपा से प्राप्त हुआ रतिभाव शरीर के प्राकृत-अंशों का त्याग करा कर अलौकिक-अंश को प्रभु से जोड़ देता है।

भागमिति पाठे स्पष्टमेव। अथवा वायुर्यथा कलुषितजलानां यो मलांशस्तन्मध्यस्थः पङ्कस्तस्य त्यागेन शेषभागं मलांशावशिष्टं जलं तनौ स्वस्मिन्नयति शोषणद्वारा गृह्णाति, तथा स भावोपि प्राकृतांशत्यागेन शेषभागं सर्वं तनौ स्वदेहादिरूपे प्रभौ प्रापयेत्, तदात्मको भवतीति भावः। अथवा तनौ स्वतनौ यत्सर्वं शेषभागं तनुव्यतिरिक्तं मनःप्रभृति तत् सकलं नयेत्, हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मको भवतीति पूर्ववत्। एवं पूर्णो निरोधः सिद्धो भवति॥ १७, १८॥

यदि **"शेषभाव"** पाठ के स्थान पर **"शेषभाग"** पाठ मान लिया जाय, तो फिर अर्थ स्पष्ट ही है। क्योंकि "शेषभाव" पाठ मानने पर तो केवल "तनु" कह देने से अर्थ सुस्पष्ट नहीं होगा और तनु के साथ-साथ "देह-इन्द्रियाँ-प्राण" इत्यादि भी गिनाने पड़ेंगे। किंतु "शेषभाग" पाठ मानने पर तो अपने आप ही तनु के शेषभाग अर्थात् देह-प्राण-इन्द्रिय इत्यादि का अर्थ सरलता से समझ में आ जाता है। अथवा तो वायु के इस उदाहरण को एक और उदाहरण से समझने का प्रयत्न करते हैं। यों समझें कि, जिस प्रकार से कीचड़ से भरे जल में वायु कीचड़ या मल को तो ग्रहण नहीं करती अपितु जल का ही शोषण करती है, उसी प्रकार वह रतिभाव भी शरीर से प्राकृतांश का त्याग करके समस्त शरीर के शेषभाग को प्रभु से जोड़ देता है अर्थात् अब उसका समस्त शरीर भगवदात्मक हो जाता है, यह भाव है। अथवा तो, तनौ शब्द का अर्थ है - अपने शरीर में ; और अपने शरीर में

शरीर से अतिरिक्त मन-इन्द्रिय आदि अन्य सभी को वह रतिभाव हरि से जोड़ देता है, वह जीव तब संपूर्णरूप से भगवद्-स्वरूपात्मक बन जाता है। इस प्रकार से पूर्णनिरोध सिद्ध हो जाता है॥ १७,१८॥

ननु तद्भावस्वभावात्स्वत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तत्राहुः यस्य वेति।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥

वेत्यानादरे। यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजनानुरोधेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं भगवदावेशेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्वोक्तैः भगवदीयैः सह गुणगानेन तस्येन्द्रियस्य विनिग्रहोन्यतः प्रत्यावर्त्य स्वरूपग्रहणैकस्वभाव एव कर्तव्य इत्येतदर्थं कर्तव्यविधिरुक्त इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः॥ १९॥

किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, यह सभी कुछ जो ऊपर बताया गया है, वह तो आचार्यचरणों/गोपीजनों की कृपा द्वारा ही मन में भगवद्-रति का भाव उत्पन्न होने से ही हो जायेगा, फिर यहाँ आचार्यचरणों को "क्या करना और कैसे करना ?" इस प्रकार से विधि बताने की क्या आवश्यकता है ?इसका उत्तर आपश्री **यस्य वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ वा शब्द अनादर अर्थ है। अर्थात् इस श्लोक में जो निग्रह करने की बात कही गयी है, उसका आदर नहीं अपितु अनादर है। मुख्यपक्ष या श्रेष्ठपक्ष तो इन्द्रियों का निग्रह करना नहीं अपितु इन्द्रियों को भगवान् में योजित कर देना है। यद्यपि यह बात ठीक है कि निरोधभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि, तादृशीजीव की भगवान् में रति उत्पन्न हो जायेगी, तथापि जीव तो लौकिकजन ही हैं अतः लौकिकविषय संबंधी कार्य तो होंगे ही। इसलिए जिस इन्द्रिय की कृति भगवदावेश के कारण होने वाले भगवत्कार्य के जैसी स्पष्टरूप से न दिखाई देती हो, तब ऐसी परिस्थिति में समस्त लौकिक का परित्याग करके पूर्व में कहे भगवदीयों के संग भगवद्गुणानुवाद करते हुए उस इन्द्रिय का निग्रह करना चाहिए। अर्थात् उन इन्द्रियों को उन लौकिक विषयों से हटाकर उसका स्वभाव ऐसा बनाना चाहिए कि वह केवल भगवत्स्वरूप को ही ग्रहण करे। अतः इस अर्थ में आचार्यचरणों ने "क्या करना और कैसे करना ?"इस प्रकार से कर्तव्यविधि बताई है॥ १९॥

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः नातः परतर इति।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

मन्त्रस्तवविद्यातीर्थादीनां लोकवेदोक्तफलप्रापकत्वाल्लोके वेदे च महत्वं भवतु, न तु तदतिरिक्ते। गुणगानस्य तदतीतफलप्रापकत्वात्तदतीतसर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फलस्तुतिरुक्ता। यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता क्लेशेन, तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुखेन भवति, फलमपि महत्, सर्वोत्कृष्टमितिगुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्त्वं निरूपितम्॥ २०॥

इस प्रकार से पूर्णनिरोध के स्वरूप का निरूपण करके अब आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **नातः परतरः** इत्यादि शब्दों से भगवद्गुणगान को सर्वोत्कृष्ट बता रहे हैं क्योंकि निरोधप्राप्ति का साधक यही है।

इस श्लोक के द्वारा आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि - चूँकि मन्त्र, स्तुति, विद्या, तीर्थ इत्यादि साधन लोकवेद में कहे फल की ही प्राप्ति कराते हैं, अतः लोकवेद में ही उनका महत्व है। किंतु लोकवेद से अतिरिक्त पुरुषोत्तम की प्राप्ति कराने में इनका कोई महत्व नहीं है। और भगवद्गुणगान तो लोकवेद से अतीत अलौकिक फल की यानि कि पुरुषोत्तम की प्राप्ति कराता है अतः भगवद्गुणगान लोकवेद से उत्कृष्ट है - यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस श्लोक द्वारा भगवद्गुणगान के फल की स्तुति की है। यद्यपि मन्त्र आदि के द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाने पर इन्द्रियों का निग्रह तो होता है परंतु बड़ी कठिनाई से। और इतनी कठिनाई के बाद भी उससे मिलने वाला फल भगवद्गुणगान से मिलने वाले फल की तुलना में तो स्वल्पतर ही है। जबकि भगवद्गुणगान द्वारा इन्द्रियों का निग्रह भी सुलभता से हो जाता है और फल भी उत्तम प्राप्त होता है, सर्वोत्कृष्ट। अतः यहाँ आपश्री ने गुणगान की ही महत्ता बताई है॥ २०॥

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतम्

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः।
ममार्थावगतिर्जाता दुर्बोधेप्यत्र निश्चितम्॥ १॥
तेन सङ्गतमेवाहं मन्येत्र तदपि स्वतः।
संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्सलाः॥ २॥
अहर्निशंविचारेस्मिन्नेवं तिष्ठति यन्मनः।
अतो हि लिखने नूनं प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा॥ ३॥
श्रीविट्ठलेश्वरपदाम्बुजरेणुरेव सर्वस्वमित्यनिशमस्तु ममाभिलाषः॥
यत्स्पर्शतः सपदि दैवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवी फलिताखिला स्यात्॥ ४॥

इतिश्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीवल्लभकृतं समाप्तम्॥

श्रीमदाचार्यचरणकमलों की सतत स्मृति से दुर्बोध होने पर भी मुझे इस ग्रंथ का अर्थबोध हुआ, यह निश्चित् है॥ १॥

अतः मैं तो मेरा अर्थ उचित ही मानता हूँ, तथापि मेरे प्रेमी सुज्ञजन कृपा करके स्वतः मेरे अर्थ का संशोधन करें॥ २॥

मेरा यह मन जो दिनरात आचार्यचरणों के चरणकमलों के ध्यान में रहता है, यही कारण है कि मेरी इस लेखन में प्रवृत्ति हुई है, अन्यथा न होती॥ ३॥

मेरी तो अभिलाषा यही है कि, श्रीविट्ठलेश्वर के चरणकमलों की रेणु ही निरंतर मेरा सर्वस्व हो, जिसके स्पर्श से दैवीजीवों में श्रीवैश्वानर-महाप्रभुजी द्वारा कही अखिल निरोधपदवी शीघ्र ही फलित हो जाती है॥ ४॥

यह श्रीवल्लभकृत श्रीनिरोधलक्षण का विवरण समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः

निरोधलक्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्वीयेषु करुणावतः । निरोधलक्षणग्रन्थं तद्दासश्चिन्तयत्ययम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सन्न्याससनिर्णये भक्तिमार्गीयत्यागस्य विरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनभिन्नकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकांक्षायां भावनासिद्धस्य [1]भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः। तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र बाधकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकांक्षोत्पद्यते।

स्वीयजनों पर करुणा करने वाले श्रीमदाचार्य को प्रणाम कर, यह दास निरोधलक्षणग्रंथ का चिंतन कर रहा है। ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने संन्यासनिर्णयग्रंथ में विरह का अनुभव करने के लिये भक्तिमार्गीय त्याग करने का उपदेश देकर एवं उस ग्रंथ में दो गुरुओं की अर्थात् कौण्डिन्य एवं गोपिकाओं की बात कह कर (देखें - कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्-८) आपने ज्ञानमार्गीयकाल का संन्यास एवं भक्तिमार्गीयकाल का संन्यास और इन दोनों के फल को भिन्न-भिन्न बताते हुए अधिकारिभेद भी सूचित किया है। आपने वहाँ यह भी बताया है कि भक्तिमार्गीयत्याग केवल भगवत्प्रेम से ही सिद्ध हो सकता है। और यदि इस भक्तिमार्गीय त्याग में साधन क्या है, यह पूछा जाय तो आपश्री ने वहीं भगवद्भावना से हृदय में सिद्ध हुए भगवद्भाव को ही एकमात्र साधन बताया है(देखें "भावो भावनया सिद्धः"-सं० नि०-८)। इस परिस्थिति में जब जीव ऊपर कहे प्रकार से भक्तिमार्गीय त्याग करता है एवं एकमात्र भगवद्भाव को ही साधन बनाता है, तब उसमें एक विलक्षण अधिकार पैदा होता है और भगवद्विरह में जब उसके प्राणों पर आ बनती है, तब भगवद्गुणगान उसके प्राणों की रक्षा करके उसे जीवन देता है - ऐसा आपश्री ने वहाँ कहा है। परंतु प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार के अधिकारियों को कैसी भावनाओं द्वारा कौन सा भाव उनके लिये भगवत्प्राप्ति में साधन बनता है ? और आपने उसी ग्रंथ में भगवद्गुणगान को पहले बाधक बताया है (देखें "ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः")और फिर आगे उन्हीं भगवद्गुणगान को जीवन टिकने का हेतु कैसे कह रहे हैं (देखें- गुणास्तु सङ्गराहित्याद् जीवनार्थं भवन्ति हि) ?? उस जीव में तब ऐसा कौन सा अधिकार पैदा हो जाता है कि, तब गुण उसके लिये साधक बन जाते हैं ?

[2]किञ्च, भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढबीजभावस्य भगवदुक्तस्वविचारितरीत्या भजमानस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं गृहत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपं साधनमुक्तवन्तः। अदृढबीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः स्नेहासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपायं तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अग्रे [3]त्यागकरणादेरावश्यकत्वमुक्तवन्तः। तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकांक्षोत्पद्यते। [4]तथा सेवाफलविवरणे चाद्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्वं हेतुत्वेनोक्तवन्तः। तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्वं कथं स्यादित्याकांक्षोत्पद्यते।

इसी प्रकार भक्तिवर्धिनी में आपश्री ने दृढ़बीजभाव वाला जीव जो भगवान् द्वारा कही गयी रीति से अथवा स्वयं आचार्यचरणों द्वारा कही गयी रीति से भगवद्भजन कर रहा है, उसकी भक्ति की वृद्धि के लिये गृहत्यागपूर्वक श्रवणकीर्तनरूप साधन बताए हैं। और अदृढ़बीजभाव वाले जीव को तो गृह में रह कर पूजा-श्रवण आदि के द्वारा स्नेह-आसक्ति-व्यसन तक के उपाय एवं उन्हीं के द्वारा कृतार्थता होती है , यह कह कर आगे त्याग करने की आवश्यकता कही है। फिर भी वहाँ "भक्ति की वृद्धि हो गयी है" यह कैसे पता चले ? ऐसी आकांक्षा होती है। और सेवाफलग्रंथ के विवरण में आपश्री ने यह कहा है कि, सेवा

१. तनुवित्तजयोस्तु भावनाप्रधानत्वमिति भावः। आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा त्यागसाधिकेति। २. सन्न्यासाश्रम उक्त्वा गृहस्थाश्रम आहुः। ३. त्यागसन्न्यासयोर्भेदो गीतायाम्। ४. तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राहुः।

में प्राप्त होने वाले तीन फलों में से पहला फल अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्य नहीं प्राप्त होता, तो उस जीव द्वारा की जानेवाली सेवा आधिदैविकी नहीं बनती। इसमें भी प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि, सेवा आखिर आधिदैविकी बनती कैसे है ?

एवं तत्र तत्राकांक्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्ता आकांक्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायां भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकस्वासक्तिरूपं निरोधं क्रमेण विदधानो जीवानुद्धरति, तथेदानीमनवतारदशायामपि श्रवणकीर्तनादि-गोचराभिर्गुणलीलाभिरेव क्रमेण निरुन्धानो जीवानुद्धरतीति बोधनाय त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता, त्यागपूर्वकं कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता,यथाधिकारं भक्तिप्रवृद्ध्यात्मकपूर्वोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम्। तत्रापि त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशंसाविशेषैः परीक्षणीया। कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखविशेषैर्भक्तिवृद्धिः परीक्षणीया, [1]कृपा च परीक्षणीया। गेहे स्थित्वा भजता तु सेवाया आधिदैविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानान्यभीक्ष्णं विधेयानीत्युपदेष्टुं निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते।

इस प्रकार ऊपर कहे गये ग्रंथों में उन-उन स्थलों पर ऐसी-ऐसी आकांक्षाएँ उत्पन्न होने पर उन-उन आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिये इस निरोधलक्षण ग्रंथ की रचना आचार्यचरणों ने की है। जिस प्रकार से भगवान् अवतारदशा में भक्त द्वारा दृष्टिगत अपने गुण एवं लीलाओं द्वारा प्रपंचविस्मृतिपूर्वक-आसक्ति के स्वरूप वाले निरोध का क्रमपूर्वक दान करते हुए जीवों का उद्धार करते हैं, वैसे ही इस समय भगवान् की अनवतारदशा में भी श्रवणकीर्तन के द्वारा दिखाई देने वाले भगवद्गुण एवं उनकी लीलाओं द्वारा ही आधुनिक जीवों का क्रमपूर्वक निरोध करते हुए भगवान् उनका उद्धार करते हैं - यह बताने के लिये आपश्री कह रहे हैं कि- तुम्हें संसार का त्याग करके श्रवणजन्यभावना द्वारा भगवद्भजन करते हुए, त्यागपूर्वक कीर्तन द्वारा भगवद्भजन करते हुए और गृह में रहकर पूजादि द्वारा भजते हुए, जैसा अधिकार हो वैसे भक्तिप्रवृद्धिस्वरूप वाले पूर्व में कहे निरोध के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। फिर भी संसारत्यागपूर्वक श्रवण से उत्पन्न हुई भावना द्वारा भगवान् का भजन करते हुए भगवत्कृपा का परीक्षण कर लेना चाहिए, भगवद्गुणों का गान करना चाहिए, अपनी अवस्था अब कहाँ तक पहुँची है, यह भी परीक्षण कर लेना चाहिए और अपने अधिकारानुसार अपने मन में प्रभु-संबंधित होने वाले विशेष मनोरथों से यह भी परीक्षण कर लेना चाहिए कि, खुद में निरोध की उत्पत्ति किस स्तर तक हुई है। जब आप कीर्तन द्वारा प्रभुभजन कर रहे हैं, तो कीर्तन से मन में उत्पन्न होने वाले विशेषसुख के मापतौल से भक्तिवृद्धि की परीक्षा करनी चाहिए,और भगवत्कृपा की भी। जब गृह में रहकर भगवद्भजन कर रहे हैं, तब सेवा को आधिदैविकी बनाने के लिये श्रवण-कीर्तन-ध्यान निरंतर करते रहना चाहिए - यह उपदेश करने के लिये आचार्यचरण इस निरोधलक्षणग्रंथ का आरंभ कर रहे हैं।

नन्वस्य ग्रन्थस्य सन्न्यासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत् ? उच्यते। अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किञ्चित् साकांक्षत्वे निश्चिते, सन्न्यासनिर्णयस्थभावनादेः स्वरूपाकांक्षोत्थापकत्वात् , गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च प्रकाराकांक्षोत्था-पकत्वात् , भक्तिवर्द्धिनीस्थभक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकांक्षोत्थापकत्वात् , सेवाफलविवरणस्थानाधिदैविकीपदस्य चाधिदैविकीकथंभावाकांक्षोत्थापकत्वात् , अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्थ्याकांक्षोत्थापकत्वात् , परस्परा-कांक्षापूरकत्वं दयालुत्वादिशब्दानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि।

किंतु ऐसा मान लेना क्यों आवश्यक है कि यह ग्रंथ संन्यासनिर्णय आदि ग्रंथों के शेषत्वेन है ? जब किसी ग्रंथ में कुछ मुद्दों का स्पष्टीकरण शेष रह जाय और उन शेष बच गये मुद्दों के स्पष्टीकरण के लिये किसी दूसरे ग्रंथ का निर्माण किया जाय, तो वह ग्रंथ पहले ग्रंथ के शेषरूप में देखा जाता है। टीकाकार यह मान रहे हैं कि संन्यासनिर्णय, भक्तिवर्धिनी, सेवाफल इत्यादि ग्रंथों में जिन मुद्दों का स्पष्टीकरण न हो पाया, उन मुद्दों का स्पष्टीकरण करने के लिये आचार्यचरणों ने यह निरोधलक्षणग्रंथ लिखा है। तो इसका समाधान हम अब कह रहे हैं। अब यहाँ आचार्यचरणों ने इस नि०ल०ग्रंथ की रचना करने के लिये कोई प्रतिज्ञावाक्य तो लिखा नहीं है अतः कम से कम यह तो सिद्ध होता ही है कि, इस ग्रंथ की रचना के पीछे कोई न कोई आकांक्षा तो अवश्य रही होगी क्योंकि सं०नि० में कही भावना आदि का स्वरूप क्या है, यह आकांक्षा तो उत्पन्न होती ही है। और वहाँ भगवद्गुणों को जीवन टिक पाने का हेतु बताया गया है, तो यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि किस प्रकार से भगवद्गुण जीवन जीने में हेतु बन

१. ज्ञानत्वेन कृपात्वेन कार्यकारणभावः।

जाते हैं ? और, भक्तिवर्धिनी में जब "भक्तिवृद्धि" पद आता है, तो यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि, बढ़ी हुई भक्ति का स्वरूप आखिर कैसा होता है ? सेवाफलग्रंथ के विवरण में बताए गये "अनाधिदैविकी" पद से यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि, सेवा में आधिदैविकी भाव कैसे उत्पन्न होता है ? और अब इसी ग्रंथ में जो आचार्यचरण मनोरथ, गुणगान, कीर्तन इत्यादि की बात कर रहे हैं, तो यह विचार आता है कि, अचानक ही इस ग्रंथ में इन सबकी चर्चा आपश्री ने किसलिये छेड़ दी ? अतः इस प्रकार से इन ग्रंथों में परस्पर आकांक्षाओं की इस निरोधलक्षणग्रंथ में पूर्ति करना ही कारण है, कि जिससे इस ग्रंथ को ऊपर कहे समस्त ग्रंथों का तच्छेष कहा जा रहा है। और इसी प्रकार ऊपर कहे ग्रंथों में कहा गया प्रमेय भी इस ग्रंथ में "दयालु" इत्यादि शब्दों से आगे स्पष्ट हो जायेगा - यह जान लीजिए।

न च भक्तिवर्धिनीस्थपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तच्छेषत्वाभावः शंक्यः। सन्न्यासनिर्णयप्रमेयेणैव तत्प्रमेयस्यापि क्रोडीकरणाददोषात्। परस्पराकांक्षावशादेव श्रीहरिरयैरपि "श्रीकृष्णरसविक्षिप्ते"त्यादिश्लोकपञ्चकस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलभेदशेषत्वमङ्गीकृतम्। तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यत्वयोरङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति तच्छेषत्वेन व्याख्यायते। तत्र सन्न्यासनिर्णये त्यागिनो भावनामात्रसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहविषयकानुभवार्थत्वात्, विरहस्य च प्राकट्यतिरोभावजनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे आसक्त्या गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वतया भगवदासक्तौ जातत्वे, व्यसनेन च भगवद्गुणलीलाप्राधान्यं विहाय भगवत्स्वरूपपरतायां जातायां, दैन्ये सति जन्मप्रकरणोक्तरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृशदुःखाशंसैवोत्पद्यत इति।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि यदि इस ग्रंथ में भ०व०ग्रं में कहे गये पदों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तो इसे भ०व० का तच्छेष नहीं मानना चाहिए क्योंकि यदि सं०नि०ग्रं में कहे गये प्रमेय की चर्चा यदि इस ग्रंथ में है तो , संन्यासनिर्णय ने भक्तिवर्धिनी में कहे गये प्रमेय को भी अपने में समाहित करके रखा ही है अतः इस ग्रंथ को इनका तच्छेष कहने में कोई दोष नहीं है। पिछले ग्रंथों में रही परस्पर आकांक्षाओं के कारण ही तो श्रीहरिरायजी ने भी पंचपद्यानिग्रंथ के पाँच श्लोकों को स्वतंत्ररूप से प्रतीत होने पर भी जलभेद के शेषत्वेन माना है। इसलिये यदि इस प्रकार से किन्हीं ग्रंथों में आपस में शेषत्व एवं आपस में समानता(एकवाक्यता)मान ली जाय तो इसमें कुछ भी बाधक नहीं है। अतः मैं इस ग्रंथ को ऊपर कहे ग्रंथों के शेषरूप में मानकर इसकी व्याख्या कर रहा हूँ। क्योंकि सं०नि०में त्यागी के लिये मात्र भगवद्भावना से सिद्ध हुए भाव को ही साधन के रूप में बताया गया है, क्योंकि त्यागियों में प्रथमाधिकारी द्वारा किये गये त्याग का विषय भगवद्विरह का अनुभव करना है, और विरह का अर्थ तो भगवान् के प्राकट्य के पश्चात् उनके तिरोधान हो जाने से उत्पन्न हुआ दुःखरूप है ; और ऐसे प्रथमाधिकार वाले त्यागियों को जब कृष्ण में आसक्ति होती है, तब उन्हें गृह की बाधकता एवं अनात्मत्व का भास होता है , तब कुछ थोड़ी-बहुत प्रपंच की विस्मृति होकर उनमें भगवदासक्ति उत्पन्न होती है और भगवद्-व्यसन होने के कारण भगवान् की गुणलीलाओं की प्रधानता छोड़कर उनमें भगवत्स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न होती है और तब उनमें दैन्य प्रकट होकर श्रीमद्भागवत के जन्मप्रकरण में कही गयी रीति के अनुसार अब वे यह जानने लगते हैं कि, भक्त का दुःख-विरह ही भगवान् के प्रादुर्भाव होने में मुख्य कारण बनता है अतः उन्हें इस नि०ल०ग्रं० में कहे दुःख का मनोरथ होता है । सो, आपस में मिली-जुली इन कड़ियों के हिसाब से यह ग्रंथ पूर्व में कहे सं०नि० इत्यादि ग्रंथों का शेषरूप है - यह जानना चाहिए।

तत्र तादृशदुःखजनकातिशयस्यैव भक्तिवृद्धिरूपत्वं, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदासक्त्योराधिक्यात्। अतः तादृशनिरोधस्य प्रस्तूयमानदुःखाशंसारूपं तद्भावनारूपं च कार्यलक्षणमिति प्रथमं तदाहुः यच्चेत्यादि।

इस प्रकार ऊपर कही गयी रीति के अनुसार अतिशय दुःखजनक विरह ही बढ़ी हुई भक्ति का स्वरूप है क्योंकि ऐसे विरही जीव में प्रपंचविस्मृति भी अधिक है एवं भगवद्-आसक्ति भी अधिक है। अतः यहाँ इस ग्रंथ में कहे गये उपर्युक्त प्रकार के निरोध के कार्यलक्षण "दुःख का मनोरथ करना" एवं "भगवद्भावना करनी" ये दो हैं। किसी वस्तु के द्वारा होने वाले कार्य से जब उस वस्तु को पहचाना जाता है, तो उस कार्य को "कार्यलक्षण" कहा जाता है। निरोध सिद्ध होने पर जीव भगवान् से दुःख की, विरह की कामना करता है क्योंकि वह जानता है कि भगवान् भक्त के दुःख को देखकर ही प्रकट होते हैं अतः जब कोई भक्त दुःख की कामना करे, भगवान् से विरह प्राप्त होने का मनोरथ करे, तो समझना चाहिए कि उसे निरोध सिद्ध हो रहा है। इन दो में से प्रथम लक्षण अर्थात् "दुःख का मनोरथ करना" को आचार्यचरण यच्च इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

अत्र दुःखाधारभूतानां त्रयाणां कथनेन तेषां भावत्रैविध्यं द्योतितम्। चकारत्रयेण तत्तत्सजातीयभाववन्तः कंसादेः कालतोऽज्ञानाच्च दुःखभाजः संग्रहीताः। तदानीं कंसादिवदिदानीमप्यसुरान्तराणां संभवात्। कालाज्ञानयोरपि संभवाच्च। क्वचिदिति अनिर्णीतदेशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवद्देशेषु पर्यटितृत्वसूचनेनाधिकारिणस्त्यागित्वं बोधितम्। एवमग्रेपि ज्ञेयम्। तथा च ये बालादिभावे, ये च पौगण्डादिभावे, ये च प्रौढादिभावे, आसक्ताः, तेषां दुःखं दृष्ट्वा तन्निवृत्यर्थं तादृशतादृशरूपेणैव भगवान् तत्तद्भावानुसृतं सुखं दातुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृशं दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंसोत्पादको यः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य फलम्। तदाशंसैव प्रथमाधिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः।

इस प्रथमश्लोक के अंतर्गत आचार्यचरणों ने दुःख का अनुभव करनेवाले आधारभूत तीन के नाम लिये हैं- श्रीयशोदाजी, नन्द आदि एवं गोपिकाएँ अतः समझना चाहिए कि आपश्री तीन प्रकार के भावों का द्योतन/सूचन करना चाह रहे हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त तीन "च" शब्द से ऊपर कहे गये तीन के सजातीय भाव वाले जीव जो कंस जैसे राजाओं से कलिकाल से एवं अज्ञान से दुःखी हैं, वे भी इन तीनों के साथ-साथ समझ लेने चाहिए। क्योंकि उस समय तो कंस जैसे दुष्ट राजा थे, आज उनकी भाँति दूसरे असुर भी तो दुःख देते ही हैं। कलिकाल भी है एवं अज्ञान भी फैला हुआ है ही। क्वचिद् शब्द का अर्थ है - कहीं। अर्थात् आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि - ऐसा दुःख मुझे कहीं, किसी स्थान पर तो मिले ! इससे यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार से कहने वाला व्यक्ति उन-उन भगवत्स्थलों में भटक रहा है एवं उसने समस्त घर-गृहस्थी का त्याग कर दिया है। क्वचिद् शब्द का यही अर्थ आगे के श्लोक में भी जान लेना चाहिए। अतः जो प्रभु के बाल-आदि भावों में पौगण्ड आदि भावों में एवं प्रौढ-आदि भावों में आसक्त है, उनके दुःख देखकर उनके दुःख को दूर करने के लिये उन-उन बालादि स्वरूप से ही भगवान् उन-उन जीवों के भावों के अनुसार ही सुख देने के लिये प्रकट हो जाते हैं। अतः भगवान् के प्राकट्य के लिये ऐसा दुःख ही साधन बनता है। सो, अपने आप में ऐसे दुःख का मनोरथ उत्पन्न करने वाले जो प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवद्-आसक्तिरूप निरोध है, वही निरोध कृष्ण में होने वाले व्यसन का फल है। मन में ऐसा दुःखरूप मनोरथ होना ही प्रथमाधिकारियों की भक्तिवृद्धि का लक्षण है - यह अर्थ है।

अत्र स्यादित्याशंसासूचकम्। यद्यपि आशंसावचने लिङिति सूत्रेण आशंसावाचिन्युपपद एव लिङ् विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि "देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेद्"इत्यादिप्रयोगदर्शनान्न दोषः। यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भावनायां वा लिङिष्यते, तदापि तयोराशंसामूलकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः॥ १॥

इस श्लोक में प्रस्तुत हुआ "स्यात्" शब्द उसी मनोरथ की आशंसा का सूचक है। यद्यपि "आशंसा वचने लिङ्" इस सूत्र से किसी आशंसावाची शब्द से पहले आये उपपद में ही "लिङ्-लकार" का प्रयोग होना चाहिए उक्त पाणिनीसूत्र "आशंसावचने लिङ्" के अनुसार आशंसावाची अर्थात् मनोरथ या आशा को बताने वाले किसी शब्द के पहले प्रयुक्त हुए उपपद में ही लिङ्-लकार का प्रयोग होना चाहिए परंतु यहाँ आचार्यचरणों ने सीधे-सीधे आशंसावाची पद से पहले किसी उपपद के न होते हुए भी लिङ्-लकार का प्रयोग कर दिया है, जिसके लिये टीकाकार यहाँ उसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। जहाँ कोई आशंसा है, कोई मनोरथ की बात है, भविष्य की कोई संभावना की बात हो, वहाँ उस भाव को बताने वाले शब्दों के पूर्व में आनेवाले उपपद में लिङ्-लकार का प्रयोग होता है। किंतु आचार्यचरणों ने इस श्लोक में उपपद के बिना ही लिङ्-लकार का प्रयोग कर दिया है। इसके विषय में टीकाकार समाधान करते हुए आगे लिख रहे हैं कि, वैसे भी लोकव्यवहार में "देवदत्त.....भवेत्" इस प्रकार के वाक्य प्रयुक्त होते सुनाई पड़ते ही हैं, जिसमें उपपद न होते हुए भी लिङ्-लकार का प्रयोग कर दिया गया होता है। अतः आचार्यचरणों ने यहाँ ऐसा कुछ प्रयोग कर दिया हो तो इसमें कोई दोष नहीं है। और यदि आप लोकोक्ति को प्रमाण नहीं मानते तो प्रार्थना के अर्थ में एवं संभावना के अर्थ में भी लिङ्-लकार का प्रयोग होता ही है अतः आशंसा (मनोरथ) में प्रार्थना भी छुपी हुई है और संभावना भी, सो आशंसा में आचार्यचरण लिङ्-लकार का प्रयोग कर रहे हैं, तो इसमें कोई दोष नहीं है॥ १॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिभ्रमन्यायकभगवदनुभवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृशनिरोधलक्षणकथनमुखेनाहुः गोकुल इत्यादि।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २॥

तुशब्दः पूर्वव्यावृत्यर्थः। एषोत्यन्तं विप्रयोगेण दुःखितः इति रसप्रधान इति प्राकट्यजनिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकांक्षारूपं कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं गोपिकापदोक्तिः। अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चादुक्तिः। किंशब्दो विकल्पं द्योतयति। "विकल्पे किं किमूत चे"ति कोशात्। आशंसायां भविष्यत्काले लृट्॥ २॥

अब दूसरे श्लोक में आचार्यचरण मध्यमाधिकारी जीवों को होने वाले निरोध का लक्षण बता रहे हैं। मध्यमाधिकारी जीवों द्वारा किया गया त्याग विरह के समय होने वाले आसक्तिभ्रम की भाँति उन्हें सर्वत्र उन्हें भगवद्-अनुभव कराता है, जो उनकी भक्तिवृद्धि का स्वरूप है ; इस भक्तिवृद्धि के स्वरूप को आचार्यचरण निरोध सिद्ध होने के लक्षण के रूप में **गोकुल** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में कहे गये **तु** शब्द से ज्ञात होता है कि, पहले श्लोक में कहे गये अधिकारियों की चर्चा इस श्लोक में नहीं है। इस श्लोक में कहा गया मध्यमाधिकारी विप्रयोग से अत्यंत दुःखी है अतः रसप्रधान है। भगवान् को प्रकट करने वाली उसकी अत्यंत आसक्ति ही उसकी भक्तिवृद्धि का सूचन करती है। अतः उसका यह मनोरथ करना कि - जैसे-तैसे मुझे भगवान् के दर्शन से उत्पन्न होने वाला सुखप्राप्त हो - यही उसकी भक्तिवृद्धिरूप निरोध का लक्षण है। इस बात को बताने के लिये आपने सर्वप्रथम "गोपिका" पद कहा है। अन्य दूसरों को तो गोपिकाओं की भाँति सर्वात्मभाव सिद्ध नहीं है अतः वे सभी गोपिकाओं की तुलना में न्यून हैं, सो उनको आपश्री ने बाद में कहा है। **किं** शब्द यहाँ विकल्प का द्योतन कर रहा है अर्थात् आचार्यचरणों का आशय यह है कि, गोपिकाओं को तो ऐसा सुख मिला ही, अब विकल्प से मुझे भी मिल जाय। शब्दकोश में भी "विकल्प के अर्थ में किं-किमु-उत शब्दों का प्रयोग होता है- यह लिखा हुआ है। यहाँ भी "विधास्यति" पद में जो लृट्-लकार का प्रयोग है, वह भी आशंसा या मनोरथ के अर्थ में समझना चाहिए॥ २॥

अथोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहान्तरभाविसाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्व्रजस्थानामिव विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य लीलासुखादिस्मरणसंवलितविरहसामयिकानुभवत्त्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिंस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः उद्धवेत्यादि।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ ३॥

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिति क्रिया अनुषज्यते। तथा च तादृशस्मरणोत्सवादिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिंस्तादृशभक्तिवृद्धिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः। अत्र त्रिष्वपि श्लोकेषु गोकुलपदोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भावः श्रीव्रजनाथस्वरूपासक्तानामेव विवक्षितः, नान्यस्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम्। ते एव परमानुग्रहविषया इति च। तृतीये वृन्दावनपदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम्। तेनैतादृशपुष्टिमार्गीयविषयक एवायं विचारः, न तु सर्वसाधारण इत्यपि बोधितम्।

अब चूँकि उत्तमाधिकारी द्वारा किया गया त्याग भगवद्विरह के पश्चात् होने वाला भगवान् का साक्षात्कार सिद्ध कराता है अतः एक बार भगवद्-साक्षात्कार होने के पश्चात् जब उसे व्रजवासियों की भाँति पुनः विरह होता है, तब उसे पूर्व में अनुभव किये गये लीलासुख इत्यादि के स्मरण से युक्त विरह के समय का अनुभव होता है और तब उसे भगवत्स्मरण कराने वाला निरोध ही उसकी भक्तिवृद्धि का रूप है। अतः आचार्यचरण अपने आप में उस निरोध का लक्षण बताते हुए **उद्धव** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में भी पूर्व के श्लोकों में कही स्यात् क्रिया जोड़ कर अर्थ करना चाहिए। अतः ऊपर कहे भगवत्स्मरणरूपी उत्सवविषयिणी आशंसा ही अपने आप में भक्तिवृद्धि का लक्षण है- यह अर्थ है। इन तीनों श्लोकों में आचार्यचरणों ने "गोकुल" पद कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि पूर्व में कही गयी गयी रीति का भाव श्रीव्रजनाथ (वह प्रभु जो व्रज के स्वामी हैं) के स्वरूप में आसक्त जीवों के लिये ही आपश्री कह रहे हैं, उनके लिये नहीं जो व्रज के ठाकुर को छोड़कर कहीं अन्यत्र आसक्त हैं। प्रभु ने परम-

अनुग्रह तो व्रजवासियों पर ही किया है। और इस तृतीय श्लोक में कहा "वृन्दावन" पद यह बताता है कि , गोकुल की भी अपेक्षा वृन्दावन पर प्रभु की अधिक कृपा है - यह जानना चाहिए। इसीलिए नि०ल०ग्रं० में किया गया विचार ऐसे पुष्टिमार्गीयों के लिये ही है, जनसाधारण के लिये नहीं- यह भी जान लेना चाहिए।

चाचामते त्वत्र श्लोकत्रये सुबोधिन्याद्युक्तस्य निरोधस्यावश्यंभावसूचको मनोरथ एवोच्यते। श्रीहरिरायाणां मते तु निरोधनिमित्तकारणभूतयोर्भावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं भावनमुच्यते, तच्च दुर्लभत्वबोधनाय स्वविषयकतया प्रार्थनारूपेणोच्यते। मन्मते त्विदमाशंसात्रयं भक्तिवृद्धिज्ञापकलक्षणतयैवोच्यत इति ततो भेद इति ज्ञेयम्॥ ३॥

चाचागोपीशजी के मत से तो यहाँ तीन श्लोकों में सुबोधिनी में कहा गया निरोधदशा का अवश्यंभावी मनोरथ ही आचार्यचरण कह रहे हैं अर्थात् उस मनोरथ की बात कह रहे हैं, जो निरोध सिद्ध होने के पश्चात् होता ही है। श्रीहरिरायजी ने अपनी टीका में यह लिखा है कि, निरोध के निमित्तकारण "भावभावन" एवं "गुणगान" में से पहले आचार्यचरणों ने भावभावन की बात कही है। और चूँकि ऐसा भाव सभी को होना दुर्लभ होता है अतः आपश्री इसे अपने आप तक ही सीमित रखते हुए प्रार्थनारूप से कह रहे हैं। मेरे अपने मत से तो इन तीन श्लोकों में की गयी तीन आशंसाएँ (मनोरथ) आचार्यचरणों ने भक्तिवृद्धि के लक्षणों को बताने के लिये कही हैं। अतः पूर्व के टीकाकारों के अर्थ में एवं मेरे अर्थ में यह भेद समझ लेना चाहिए॥ ३॥

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्तेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोधमाशंसारूपकार्यमुखेनाभिज्ञानार्थमुक्त्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तास्तेषां भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं त्रिभिर्वदन्त प्रथमं गुणगातृषु प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिंस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपयेत्यादि।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि॥ ४॥

अत्र यावदिति पदमुत्तरावधिज्ञापकं तावत्पदं च पूर्वावधेः। महत्पदं च पारोक्ष्येण व्रजभक्तज्ञापकम्। तथा च तासां कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति वक्ष्यमाणरीतिकस्वैकतानत्वसंपादिकां दयां करिष्यति तावत् ततः पूर्वं कीर्त्यमानः "नामान्यनन्तस्ये"त्युक्तरीत्या स्मरणपूर्वकं वर्ण्यमानः आनन्दसन्दोहः श्रीमद्वृन्दावनेन्दुप्रकटितरसिकानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन सुखाय भवतीति शेषः। अतस्तस्य कीर्त्यमानलीलया सुखजननं व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणम्। हतत्रपत्वेन प्रपञ्चविस्मृत्याधिक्यादित्यर्थः॥ ४॥

इस प्रकार से त्यागियों में जो श्रवण से उत्पन्न हुई भावना मात्र में ही निष्ठ हैं, उनकी भक्तिवृद्धि के स्वरूप को बताने वाला भावनात्मक निरोध एवं उसके कारण मन में उत्पन्न होने वाले आशंसारूपी निरोध के कार्य को कह कर, अब आगे के तीन श्लोकों में आचार्यचरण इन त्यागियों में से भी अधिक ऊपर की कक्षा वाले गुणगान में आसक्तजीवों की चर्चा कर रहे हैं। उनकी भक्तिवृद्धिरूप निरोध को आपश्री अपने खुद के लिये बताते हुए उसके लक्षण इन तीनों श्लोकों में कह रहे हैं। सर्वप्रथम गुणगान करनेवालों में प्रथमाधिकारियों के निरोध का लक्षण आपश्री **महतां कृपया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में "यावत्" पद भगवान् की दयालुता प्रकट होने के बाद की परिस्थिति को बता रहा है एवं "तावत्" पद पहले की परिस्थिति को। **महत्** पद से परोक्षरीति द्वारा व्रजभक्तों की ओर संकेत है। अतः इस प्रकार अर्थ यह बनेगा कि गोपिकाओं की कृपा द्वारा भगवान् जब, जिस समय दया करेंगे अर्थात् आगे इस ग्रंथ में कही जाने वाली रीति से केवल उन प्रभु में ही चित्त संलग्न कराने वाली दया करेंगे, तब तक अर्थात् वह अवस्था आने तक, कीर्तन से प्रसन्न होने वाले कीर्त्यमान-भगवान् और "तभी से मैं लज्जा-संकोच छोड़कर भगवान् के अत्यंत रहस्यमय एवं मंगलमय नामों का कीर्तन एवं स्मरण करने लगा(श्री० भा० १-६-२७)" इस श्लोक में कही गयी रीति के अनुसार स्मरणपूर्वक वर्णित किये गये आनंदसंदोह-भगवान् अर्थात् श्रीमद्वृंदावनचंद्र के द्वारा प्रकटित रसिकजनों के आनंद का लीलारूप समूह जो आनंदसंदोह है .... वह आनंदसंदोह निश्चित् रूप से(हि)भक्त के लिये सुखकारी होता है। अतः उस भक्त के लिये कीर्त्यमान-भगवान् की लीलाओं से मिलने वाला सुख व्यसन का उत्कर्षरूप निरोध का अपने आप में दिखाई देने वाला लक्षण है। क्योंकि ऊपर कहे श्लोक के अनुसार जब उसकी लज्जा छूट जायेगी, तो प्रपंच की विस्मृति और अधिक होगी - यह अर्थ है॥ ४॥

अथैवंकर्तुः पूर्वदशात आधिक्यं कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया यद्वदित्यादि।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥ ५॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया यद्वद् यथा कीर्तनं लौकिकस्याग्रे निषेध्यत्वात् भक्तकृतं लीलाविषयकं कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां **न,** लौकिककर्तृकं लौकिकविषयकं च कीर्तनं न , सुखदं न। अत्रापि भवतीति शेषः। तत्र दृष्टांतः। स्निग्धभोजनरूक्षवदिति। स्निग्धं भोजनं यस्यासौ स्निग्धभोजनः, स्निग्धभोजनस्य रूक्षेण तुल्यं भवतीति स्निग्धभोजनरूक्षवत्। तथा च लौकिककर्तृके तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्वभानपूर्वकमलौकिकविषयके भक्तकृते कीर्तने यत्सुखदत्वं "कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना, विनानन्दाश्रुकलया शुद्धे भक्त्या विनाशय" इत्युक्तधर्मैर्ज्ञायमानं यत्सुखदत्वं तदेव पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः॥ ५॥

अतः इस प्रकार से भगवद्गुणगान करने वाले की कक्षा पूर्व में कही दशा से(भावभावन करने वालों की दशा से)अधिक है और उनकी कीर्तनपरता भी महत्-जनों की कृपा के कारण अधिक होती है। अतः ऐसे निरोध को अपने आप में बताने वाला लक्षण आचार्यचरण **महतां कृपया यद्वत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का तात्पर्य यह कि, पूर्व में कहे महद्-जनों की कृपा से भक्त द्वारा किया गया प्रभुलीला संबंधी कीर्तन जिस प्रकार से सदा सुखदायी होता है, वैसे लौकिक व्यक्तियों द्वारा किया गया कीर्तन सुखदायी नहीं होता क्योंकि लौकिकता का तो इसी ग्रंथ में आचार्यचरणों ने आगे निषेध किया है। अतः अर्थ यह हुआ कि, लौकिक व्यक्तियों द्वारा किया गया कीर्तन एवं लौकिकविषयों से संबंधित कीर्तन - यह दोनों सुखदायी नहीं होते। इस श्लोक में भी "सुखदायी नहीं होता है(न भवति)" यह क्रिया जोड़ कर ही अर्थ करना चाहिए। इस बात को आपश्री **स्निग्धभोजनरूक्षवत्** इन शब्दों द्वारा दृष्टांत देकर समझा रहे हैं। जिस व्यक्ति का भोजन स्निग्ध है अर्थात् घी-दूध-मालपुओं का है, उस "व्यक्ति" का नाम "स्निग्धभोजन" है। उस स्निग्धभोजन करने वाले को यदि रूक्ष के समान रुखा-सूखाभोजन दे दिया जाय तो जैसे उसे अरुचिकर लगेगा, वैसे ही लौकिककीर्तन सुनने पर उसे अरुचिकर लगेगा। अतः इस प्रकार लौकिकव्यक्ति द्वारा किये गये कीर्तन एवं लौकिकसंबंधी विषयों के कीर्तन में सुख की अनुभूति न होते हुए किसी भक्त द्वारा किये गये अलौकिक-कीर्तनों में जो सुख अनुभूत होता है, वही सुख पूर्व में कहे गये निरोध से उत्कृष्ट निरोध को अपने आप में बताने वाला लक्षण है। वह सुख जो "जब तक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघल कर गद्गद् नहीं हो जाता, आनंद के आँसू छलकने नहीं लगते, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता(श्री० भा० ११-१४-२३)" इस श्लोक में बताए गये धर्मों द्वारा बताया गया है॥ ५॥

अथ ततोप्युत्कृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः **गुणगान** इत्यादि।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥ ६॥

"महतां कृपये"ति पदद्वयमत्राप्यनुषज्जते। अतो महतां कृपया **गोविन्दस्य गुणगाने** रागानुसारेण भगवद्गुणोपबन्धयुक्तपदवाक्यानां कीर्तने **सुखावाप्तिर्यथा** येन प्रकारेण **प्रजायते** प्रकर्षाज्जायते, **तथा** तेन प्रकारेण **शुकादीनां** ज्ञानिभक्तानां **आत्मनि** हृदये **न, अन्यतः कुतः।** ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ताद्धेतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः। तथा च भगवद्गुणगाने तादृशसुखावाप्तिः पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः। एवं च त्यागकर्तॄणां मध्ये कीर्तयितृषु गुणगानतृषु च महत्कृपया हेतुत्वेनापेक्षितेति बोधितम्॥ ६॥

अब, ऊपर कहे गये भक्तों से भी उत्कृष्ट अधिकार प्राप्त होने पर पूर्व में कहे गये निरोध से अधिक निरोध का लक्षण आचार्यचरण खुद अपने आप में बताते हुए **गुणगान** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक का अर्थ करने से पहले "महतां कृपया" इन दोनों पदों को इस श्लोक में जोड़ें और तब अर्थ करें। सो, संपूर्ण अर्थ यों बनेगा कि -महद्-जनों की कृपा से गोविन्द का राग-रागिनियों के अनुसार गुणगान करने पर अर्थात् भगवद्गुणों से मिश्रित

पद-वाक्यों का कीर्तन करने पर जैसी, जिस प्रकार प्रकर्षरूप से आनंद की प्राप्ति होती है, वैसे प्रकार के आनंद की प्राप्ति तो शुक जैसे ज्ञानीभक्तों के हृदय में भी नहीं होती, फिर दूसरों की तो बात ही क्या कहनी ? जब ज्ञान और भक्ति से ही ऐसे आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर इनसे अतिरिक्त और किन प्रकारों से हो सकती है, यह विचार करिए। अतः इस प्रकार से भगवद्गुणगान में होने वाली ऐसे आनंद की प्राप्ति पूर्व में कहे निरोध से अधिक उत्कृष्ट निरोध को आचार्यचरणों में बताने वाला लक्षण है - यह अर्थ है। इस प्रकार त्याग करने वालों के अंतर्गत "कीर्तन करने वाले" एवं "गुणगान करने वालों" पर महद्-जनों की कृपा होनी अपेक्षित है , यह जान पड़ता है ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षायां तत्र भगवत्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः क्लिश्यमानानित्यादि।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मवतः स्वकीयान् क्लिश्यमानान् स्वप्राप्त्यर्थं दुःखितान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् अत्यनुग्रहं कुर्यात् तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं बहिर्निर्गतं भवेत्। पूर्वार्धोक्ता भवनक्रियाऽत्राप्यनुषज्जते। तथा च कीर्तयितॄणां भगवद्दयया भावनाप्राबल्ये दहरविद्योक्तस्येव सर्वस्यान्तरस्य बहिःप्राकट्येन महतामपि प्राकट्यात् तत्कृपया स निरोधः फलमुपधातीत्यर्थः। तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव लक्षणम् ॥ ७ ॥

वह महद्-जनों की कृपा एवं उस कृपा से होने वाला गुणकीर्तन इत्यादि से उत्पन्न होने वाला सुख कैसे होता है - यह जानने के लिये आचार्यचरण इसमें भगवत्कृपा को हेतु बताते हुए दूसरे प्रकार से क्लिश्यमानान् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जनान् अर्थात् जन्ममरण धर्म वाले अपने निजजीवों को क्लिश्यमान देखकर अर्थात् अपनी प्राप्ति के लिये दुःखीजनों को देखकर जब भगवान् कृपायुक्त होते हैं अर्थात् अत्यंत अनुग्रह करते हैं, तब भक्त के हृदय में विराजे हुए वे सर्वसदानन्द भगवान् बाहर प्रकट हो जाते हैं। इस श्लोक की पहली पंक्ति में कही "भवेत्" क्रिया दूसरी पंक्ति में भी जोड़ कर अर्थ करें। इस प्रकार कीर्तन करनेवालों की भगवान् की दया से भगवद्भावना प्रबल होने पर दहरविद्या में कही (दहर का अर्थ होता है - छोटा, सूक्ष्म, लघु। उपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा सूक्ष्मरूप से सभी प्राणियों के भीतर अवस्थित हैं। विशेष जानने के लिये देखें छान्दो० अ०-८,खं०-१, मं-१) गयी रीति से समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान प्रभु के बाहर प्रकट होने से एवं उनके संग-संग व्रजपरिकर भी प्रकट होने के कारण प्रभुकृपा से वह निरोध फलदाता बन जाता है- यह अर्थ है। इस प्रकार यह फलदाता-निरोध का ही लक्षण है ॥ ७ ॥

अतः परं कीर्तयितृषु ततो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः सर्वेत्यादि।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य बहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन सर्वानन्दप्रचुरस्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः सुतरां दुर्लभः। कुत इत्याकाङ्क्षायां, तस्य भगवद्दानहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति हृद्गत इत्यादि। हृदिस्थितो भगवान् कीर्त्यमानान् स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः बहुधा निविष्टः, कृपापदस्यपूर्वमुक्तत्वात् कृपया वा पूर्णः सन् जनान् स्वकीयान् प्लावयते, अन्तर्बही रसव्याप्तान् करोति। अत्र श्रुत्वेति पदाद्गुणानां कीर्त्यमानत्वमार्थिकम्। तथा च तेषु कृपया जनितो यो भगवदानन्दः तेन तद्भवति, नान्यत इत्यतो दुर्लभ इत्यर्थः। अत इदं फलात्मकस्य निरोधस्य लक्षणम्। एवं च भक्तिवृद्धेः स्वरूपमत्र पर्याप्नोति। तेन पूर्वोक्तेषु त्यागकर्तृषु साधनांशतौल्येपि "छन्दत उभयाविरोधा"दिति न्यायेन यत्र भगवतस्तत्कतृकस्वगुणागानकीर्तनयोः श्रवणेच्छा तेषां गुणगानादौ प्रवृत्तिः, यत्र च सा न तेषां भावनामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुख्याधिकारिषु व्यवस्था बोध्या। एतेन कृपापरीक्षणप्रकार उक्तः ॥ ८ ॥

अब इसके पश्चात् कीर्तन करने वाले जीवों को भावभावना करने वाले जीवों की तुलना में विशेष बताते हुए उनके निरोध को सर्व इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

निरोधलक्षणम्।

ऊपर कही रीति से संपूर्ण-सदानन्दरूप के बाहर प्रकट होने पर जो सदानन्दता होती है, उस सदानन्दता के कारण सर्वानन्दप्रचुर-प्रभु का भी कृपानंद प्राप्त होना तो और भी दुर्लभ है। ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में "भगवान् ही कृपानंद का दान देते हैं" इस बात का स्पष्टीकरण आचार्यचरण **हृद्गतः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि भक्त के हृदय में विराजमान भगवान् कीर्तन किये जाने वाले अपने गुणों को सुनकर कृपापूर्वक उसके हृदय में चहुँ ओर से प्रविष्ट होते हुए अपने निजजनों को प्लावित कर देते हैं अर्थात् भीतर-बाहर रस से ओतप्रोत कर देते हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त हुए **श्रुत्वा** (सुनकर) पद से ही यह अर्थ ज्ञात हो जाता है कि, इन भगवद्गुणों का कीर्तन करना आवश्यक है क्योंकि कीर्तनों को कोई सुनेगा ही तब ,जब कोई कीर्तन गायेगा अतः टीकाकार कहते हैं कि "श्रुत्वा" पद से ही अर्थतः यह बात समझ में आ जाती है कि कीर्तन करना आवश्यक है। अतः इस प्रकार भगवत्कीर्तन करने वालों पर भगवत्कृपा से उत्पन्न हुआ जो भगवद्-आनंद है, उस भगवद्-आनंद से कृपानंद प्राप्त होता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं और इसीलिये आपश्री इसे दुर्लभ कह रहे हैं - यह अर्थ है। सो यह कृपानंद का फल प्राप्त होना फलात्मक निरोध का लक्षण है - यह समझना चाहिए। और इस प्रकार कृपानंद प्राप्त होने के पश्चात् भक्तिवृद्धि का पर्याप्त परिपक्व स्वरूप सिद्ध हो गया समझना चाहिए। इन सभी विश्लेषणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व में कहे उत्तम-मध्यम-जघन्य इत्यादि प्रकार के त्याग करनेवालों के भगवत्प्राप्ति के साधन तो समान ही हैं, तथापि यह भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है कि वे किसका वरण करें। अतः "छन्दत उभयाविरोधात्" इस न्याय से (जब किन्हीं दो वस्तुओं में सर्वांश में समानता हो और उनमें से किसी एक को चुन लेना हो, तो यह चयन करने वाले की स्वतंत्रता पर आधार रखता है कि, वह दोनों में से किसका चुनाव करे। तब चयनकर्ता पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उसने एक वस्तु का चयन करके दूसरी वस्तु को क्यों छोड़ा ? दोनों वस्तुएँ तो समान ही हैं अतः चयन करने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किसे छोड़े और किसका चयन करे। इसे "छन्दत उभयाविरोधात् न्याय" कहते हैं) भगवान् की जिन भक्तों द्वारा अपने गुणगान एवं कीर्तनों को सुनने की इच्छा है, उनकी भगवद्गुणगान में प्रवृत्ति होती है। और जिन भक्तों से उन्हें ऐसी इच्छा नहीं है, उन भक्तों की मात्र भावना में ही प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार से यहाँ मुख्याधिकारियों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए। उपर्युक्त रीति से भक्त को भगवान् की कृपा की परीक्षा करने का प्रकार हमने कह दिया (अर्थात् यदि भगवद्गुणगान में अपनी प्रवृत्ति होती हो तो समझ लेना चाहिए कि हम पर भगवत्कृपा हो रही है)॥ ८॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणान्युक्त्वा तत्र साधनमुपदिशन्ति **तस्मादित्यादि।**

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः॥ ९॥

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदती **तस्मात् सर्वं परित्यज्य** भक्तिमार्गरीत्या प्रेम्णा सर्वं गृहादिकं सवासनं त्यक्त्वा **निरुद्धैः** प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तियुक्तैः **सदानन्दपरैः** हृदयस्थलीलासृष्टैकतानैः **सर्वदा** अभीक्ष्णं कालाविच्छेदेन वा **गुणाः** गेयाः गानविषयीकार्याः। तत्रावान्तरफलमाहुः **सच्चिदानन्दता स्वत इति।** स्वतो यदृच्छातः गुणगानातिरिक्तसाधनं विनैव सच्चिदानन्दता अक्षरब्रह्मता भवति। ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः। एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षणप्रकारश्चोक्तः। एवं च सिद्धांतमुक्तावल्यां "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन"मित्यनेन यदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम्॥ ९॥

इस प्रकार निरोध के अनेकविध लक्षणों को कहकर आचार्यचरण अब **तस्माद्** इत्यादि शब्दों से निरोध के साधन का उपदेश कर रहे हैं।

कारण कि भगवान् भावना की भी अपेक्षा गुणगान से अधिक प्रसन्न होते हैं अतः सभी वस्तुओं का परित्याग करके भक्तिमार्ग की रीति से भगवान् में प्रेम रखते हुए समस्त गृह-आदि वस्तुएँ वासनासहित (वासना का अर्थ है - पूर्व के संस्कार) त्याग करके निरुद्धों के संग, अर्थात् प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवान् में आसक्तचित्त वालों के संग, सदानन्दपरों के संग अर्थात् भगवान् के हृदय में विराजती लीलासृष्टि में ही जो निष्ठ हो चुके हैं, ऐसे भक्तों के संग निरंतर भगवद्गुणगान करना चाहिए। इसका अवान्तर फल आपश्री **सच्चिदानंदता स्वतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि गुणगान के अतिरिक्त अन्य साधनों के बिना ही

सच्चिदानंदता-अक्षरब्रह्मता हो जाती है। और यदि **स्वतः** के स्थान पर **ततः** पाठ मान लें तो, अर्थ यह बनेगा कि भगवद्गुणगान करने मात्र से ही सच्चिदानंदता प्राप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया द्वारा हमने गुणगान करने वाले की अपनी अवस्था का परीक्षण करने का प्रकार भी कह दिया है। और सिद्धांतमुक्तावली में जो "प्रभुसेवा में चित्त लग जाने के पश्चात् संसार दुःख छूट जाता है एवं ब्रह्म का बोध होता है(२)" इस श्लोक द्वारा प्रभुसेवा का अवान्तर फल कहा गया है, वह ऊपर कहे भगवद्गुणगान करने वालों को ही प्राप्त होता है - यह जान लेना चाहिए॥ ९॥

एवं त्यागिषु मुख्याधिकारिणां यादृग्निरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र स्वानुभवमग्रिमसिद्ध्यर्थं प्रमाणयन्तस्तद्वर्णनप्रयोजनमाहुः अहमित्यादि।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम्॥ १०॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः **रोधेन** संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनिग्रहेण **निरोधपदवीं गतः** निरोधमार्गं प्राप्तः सन् **निरुद्धानां रोधाय** संसारावेशराहित्याद्यर्थं **तं** पूर्वोक्तनिरोधं **वर्णयामि**। **तुः** प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे। **त** इति पाठे तु चतुर्थी। तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं पृष्टवान् तस्मै तुभ्यं तदर्थमग्रे वर्णयामीत्यर्थः॥ १०॥

अतः इस प्रकार से त्याग करने वालों में मुख्याधिकारियों को जैसे प्रकार के निरोध की सिद्धि होती है, उस निरोध का स्वरूप कह कर आगे वर्णन किये जाने वाले मध्यमाधिकारियों के निरोध की सिद्धि के लिये अपने अनुभव को ही प्रमाणित करते हुए आचार्यचरण निरोधवर्णन करने का प्रयोजन **अहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मैं पूर्व में कही रीति से निरुद्ध हुआ हूँ, भगवदासक्त हुआ हूँ और रोधेन अर्थात् संसारावेश से रहित होकर इन्द्रियनिग्रह करने के द्वारा निरोधपदवी को प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् निरोधमार्ग को प्राप्त होता हुआ **निरुद्धानां रोधाय** अर्थात् संसारावेश से रहित करने के लिये **तं** उस पूर्व में कहे निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। आपश्री का निरोधवर्णन करने में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है, यह **तु** शब्द से ज्ञात होता है। और यदि "तं" के स्थान पर "ते" पाठ मान लें तो यह चतुर्थीविभक्ति हो जायेगी और इसका अर्थ बनेगा - "तुम्हारे लिये"। इसका तात्पर्य यह है कि जिस किसी कृपापात्र जीव ने आपश्री से "भक्तिवृद्धि किस प्रकार से होती है ?" यों प्रश्न किया होगा, तो उसके उत्तर में आपश्री उसे संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि - तुम्हारे लिये अब मैं निरोध का वर्णन कर रहा हूँ॥ १०॥

एवं मध्यमाद्यर्थं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनिरोधस्वरूपमाहुः हरिणेत्यादि।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण त्यक्ताः, स्वीयत्वेन [१]नाङ्गीकृता इति यावत्। **अत्रेति** गुणगाने भावनायां च। तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वात्तद्विरुद्धा या गुणगाने भावनायां चाहर्निशं मोदप्राप्तिः, सा निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिद्ध्यति॥ ११॥

इस प्रकार से आचार्यचरण मध्यमाधिकारियों के लिये निरोधवर्णन करने की प्रतिज्ञा करके उसकी व्याख्या करते हुए उन मध्यमाधिकारियों के लिये उपयोगी निरोध का स्वरूप **हरिणा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

विनिर्मुक्ता का अर्थ है - जिनका प्रभु ने विशेषरूप से त्याग किया है, वे। स्वीय मान कर जिनको अंगीकार नहीं किया, वे। **अत्र** का अर्थ है - गुणगान एवं भावना में ; सो इस प्रकार कारण कि संसारावेश होने का मतलब यह है कि, भगवान् ने हमारा अंगीकार नहीं किया अतः इससे ठीक विपरीत यदि हममें संसारावेश न होकर भगवद्गुणगान एवं भावना में निरंतर आनंद प्राप्त होता है, तो यह आनंद की प्राप्ति निरुद्धजीवों का सामान्य लक्षण है- यह अर्थ सिद्ध होता है॥ ११॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगातृषु विशेषमाहुः गुणेष्वित्यादि।

---

१. यमेवैषवृणुत इति श्रुतेः।

निरोधलक्षणम्।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १२॥

मुरवैरिणः जडदोषनिवर्तकस्य [1]गुणेषु गोवर्धनोद्धरणादिषु सर्वदासक्तचित्तानां संसारश्च विरहक्लेशश्च न स्यातां किन्तु हरिवत्सुखम्। तथा च भावकानां दुःखाशंसया सुखाकांक्षया भगवत्कृतस्मरणाकांक्षया च विरहकृतं दुःखमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्रं लयः। गातॄणां तु संसारावेशाभावान्न लौकिकं दुःखम्, विरहस्फूर्तावन्तर्निष्ठा, बहिरनुभवे च गुणगानम्। अतो भगवत इव सुखमित्यर्थः॥ १२॥

इस प्रकार से निरोध का लक्षण निरूपित करके भावना करने वालों की तुलना में भगवद्गुणगान करने वालों को विशेषतया कहने के लिये अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण **गुणेषु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का तात्पर्य यह कि, **मुरवैरिणः** अर्थात् जड़दोष का निवारण करने वाले भगवान् के गोवर्धन-उद्धरण जैसे गुणों में सर्वदा आसक्तचित्त वालों को संसार एवं विरहक्लेश नहीं होते किंतु स्वयं हरि-भगवान् को जैसा सुख मिलता है, वैसा सुख उन्हें मिलता है। वह इस प्रकार कि भावभावना करने वाले तो दुःख का मनोरथ करते हैं, सुख की आकांक्षा करते हैं एवं प्रभु हमारा स्मरण करें- यह भी आकांक्षा उन्हें रहती है। इन सभी आकांक्षाओं के कारण उन्हें विरहजन्य दुःख भी बहुत होता है और इससे उनका प्रभु में शीघ्र लय हो जाता है। और इससे उन्हें हरिवत् सुख नहीं मिल पाता। परंतु भगवद्गुणगान करने वालों को तो संसारावेश न होने के कारण लौकिक दुःख होता ही नहीं, विरह का अनुभव होने पर उनके भीतर भगवान् के प्रति अन्तर्निष्ठा पनपती है और जब उन्हें बाहर भगवान् का अनुभव होता है, तब वे गुणगान में रत रहते हैं अतः उन्हें भगवान् की भाँति सुख मिलता है - यह अर्थ है॥ १२॥

एवं भावयितृगात्रोर्विशेषमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्वं निगमयन्ति, मध्यमाधिकारे हेतुं तद् व्यवस्थां च वदन्ति तदेत्यादि।

तदा भवेत् दयालुत्वमऽन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १३॥

यदा पूर्वोक्ता रीतिः तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम्। अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि। **अन्यथा** यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा **अक्रूरता** भगवतः, अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गच्युत्यभावहेतुतेति यावत्। सा **मता** संसारावेशाभावगुणाविष्टचित्तत्वाभावाभ्यां युक्तिभ्यामनुचिन्तिता। तथा च तेन मध्यमाधिकार इत्यर्थः।

इस प्रकार से आचार्यचरण भावना करने वालों की तुलना में भगवद्गुणगान करने वालों को विशेष कह कर अब अग्रिमश्लोक में यह बता रहे हैं कि, गुणगान करने वाले भी भगवत्कृपा से ही गुणगान कर पाते हैं। साथ ही साथ मध्यमाधिकार प्राप्त होने का कारण एवं प्रभु ने उनके प्रति क्या व्यवस्था कर रखी है - यह भी बता रहे हैं। इसे आपश्री **तदा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि जब पूर्व में कही रीति के अनुसार भक्त को भगवान् की भाँति सुख मिलने लगता है, तब उस पर भगवान् की दयालुता प्रकट होती है। इसी बात को हम पूर्व के श्लोक की व्याख्या में कह आये हैं। अर्थात् पूर्वश्लोक में जो भगवद्गुणों में चित्त को आविष्ट रखने वाली बात कही थी, संसार के विरहक्लेश दूर होने की एवं हरि की भाँति सुख मिलने की बात कही, वह सभी कुछ संपन्न होने के पश्चात् तब भगवान् की भक्त के प्रति दयालुता प्रकट होती है। अतः उनकी दयालुता प्रकट होने में पूर्व के वे सभी कारण जान लेने चाहिए, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। अब मध्यमाधिकारी भक्त की व्यवस्था आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **अन्यथा** का तात्पर्य यह है कि, यदि भक्त का चित्त भगवद्गुणों में आविष्ट नहीं होता, तो भी भगवान् भक्त के प्रति अक्रूरता ही रखेंगे। इसका अर्थ यह है कि यदि भगवान् भक्त के प्रति दयालुता नहीं प्रकट करते तो क्रूरता भी प्रकट नहीं करते अपितु अक्रूरता ही प्रकट करते हैं। और उस अक्रूरता का तात्पर्य यह है कि, उस भक्त को भक्तिमार्ग से च्युत नहीं करते भगवान् उस भक्त के प्रति अघातकता ही रखेंगे अर्थात् उसे भक्तिमार्ग से च्युत नहीं करेंगे। भगवान् की अक्रूरता यही है कि, जिसको आपने एक बार निरोधदान देने का विचार कर लिया, उसे भक्तिमार्ग से च्युत नहीं करेंगे। भगवान् का उस भक्त पर दयालुता न प्रकट करना एवं उस

१. स्वस्याधोक्षजत्वाद् गुणेषु।

पर अक्रूरता करने की बात इसलिये मानी(मता)जा रही है कि, ऐसे भक्त में संसारावेश नहीं है, इसलिये भगवान् उसके प्रति अक्रूर हैं। और उसका चित्त भगवद्गुणों में आविष्ट नहीं है, इसलिये भगवान् उसके प्रति दयालु भी नहीं हैं। इसी कारण इनका मध्यम-अधिकार है - यह अर्थ है।

एतद् व्यवस्थामाहुः बाधेत्यादि। अत्र अक्रूरतायां बाधशङ्का भगवद्विषयकाज्ञानकृता निरोधच्युतिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राबल्यकृतो लयश्च नास्ति, तदध्यास आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च सिध्यति। तेनेयं सर्वात्मभावप्राकट्यवती मध्यमाधिकारिव्यवस्थेत्यर्थः। एतदेव कार्यं तज्जनकस्य तादृशनिरोधस्य लक्षणं ज्ञेयम्। एतावता भक्तिवर्धिन्यां "बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना"दित्यनेन यद्भक्तिवृद्धिसाधनमुक्तं तस्य फलमुपपादितं ज्ञेयम्॥ १३॥

इस मध्यमाधिकारी की व्यवस्था आपश्री **बाध** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ यदि भगवान् की अक्रूरता की बात करें तो इसमें एक बाधा की शंका यह होती है कि, उस भक्त पर जिस पर भगवान् की दयालुता नहीं है एवं अक्रूरता है, उस भक्त को भगवद्-विषयक ज्ञान नहीं है, तो कदाचित् भगवान् उसे निरोधदान से च्युत कर दे ! अपि शब्द से यह शंका भी होती है कि प्रबल भगवद्भावना करने के कारण उत्पन्न हुए विरह से उस भक्त की मृत्यु भी हो सकती है ! परंतु समझना चाहिए कि इन दोनों बाधशंकाओं के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मध्यमाधिकार होने पर उसे भगवान् का आभास होने लगता है अर्थात् आसक्तिभ्रमन्याय वाला भगवान् का आभास उसे सिद्ध हो जाता है। जिसमें हमारी संपूर्ण आसक्ति होती है, फिर सर्वत्र हमें उसी की उपस्थिति का भ्रम होता है। इसे आसक्तिभ्रमन्याय कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, यह सर्वात्मभाव को प्रकट करने वाली मध्यमाधिकारी की व्यवस्था है। और सर्वत्र भगवान् का आभास होना ही मध्यमाधिकारी के मध्यम निरोध का लक्षण है - यह जान लेना चाहिए। इन विश्लेषणों से भक्तिवर्धिनी में "त्याग एवं श्रवणकीर्तन से प्रभु में बीजभाव दृढ़ होता है(१)" इस श्लोक द्वारा जो भक्तिवृद्धि का साधन कहा गया है, उस साधन का फल यहाँ कह दिया गया- यह समझना चाहिए॥ १३॥

अथादृढबीजभावस्य पूजादिभिर्यतमानस्य संसारावेशसत्त्वात् तस्य व्यवस्थां त्रिभिर्वदन्तः तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्वेगनिवर्तकं सर्ववस्तुसमर्पणरूपं साधनमाहुः संसारावेशेत्यादि।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ १४॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्॥ १५॥
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥ १६॥

तादृशेन हि संसारावेशदुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि। तानि च निगृह्यमाणानि क्षोभं जनयन्ति, अतस्तदभावार्थं तेषां हिताय वै निश्चयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि कृष्णस्य भूम्न ईशस्य योजयेत्। समर्प्य भगवत्सम्बन्धमिश्रितान्यनुसन्दध्यात्। फलात्मकत्वबोधनाय कृष्णस्येति। अवतारादिवारणाय भूम्न इति। एतावन्मात्रसाधनकरणेपि विषयव्यासंगनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईशस्येति। "तं यथा यथोपासत" इति श्रुत्या तत्क्रतुन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनस्यावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम्।

अब कारण कि पूजादि के द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील अदृढ़बीजभाव वाले भक्त में संसारावेश विद्यमान है, तो उसकी व्यवस्था आचार्यचरण आगे के तीन श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। उसके द्वारा की जाने वाली भगवत्सेवा को आधिदैविकी बनाने के लिये सर्वप्रथम आपश्री उसके लिये उद्वेग का निवारण करने वाला, समस्त वस्तुओं को भगवान् में समर्पण करने वाला साधन **संसारावेश** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, ऐसे अदृढ़बीजभाव वाले भक्त को संसारावेश से दुष्ट हुई अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। अब यदि उन इन्द्रियों का निग्रह करेंगे तो, वे मन में क्षोभ उत्पन्न करती हैं अतः वे क्षोभ उत्पन्न न करें इसके लिये उनका हित करने के उद्देश्य से अपनी समस्त वस्तुओं को निश्चित् रूप से भूमा-ईश्वर कृष्ण में जोड़ देनी चाहिए। उन समस्त

१. श्रुतौ दुष्टानीन्द्रियाणि ह्यध्वपारप्रापकाणि न भवन्ति, सदिन्द्रियाणि तु प्रापकाणि।

वस्तुओं को श्रीकृष्ण को समर्पित करके उनमें यह अनुसंधान करना चाहिए कि, अब वे समस्त वस्तुएँ भगवत्संबंध से मिश्रित हो चुकी हैं। इस समर्पण को फलात्मक बताने के लिये आपश्री ने यहाँ सीधे-सीधे कृष्ण पद कह दिया है। आप भगवान् के किसी अवतार को समर्पण करना नहीं कह रहे हैं अपितु स्वयं श्रीकृष्ण को समर्पण करना कह रहे हैं - यह बताने के लिये आपश्री ने **भूम्न** पद दिया है। आपके केवल इतना समर्पण मात्र कर देने से भी आपको विषयव्यासंग से छुड़ाने का सामर्थ्य श्रीकृष्ण में है, यह बताने के लिये आपश्री ने **ईश** पद का प्रयोग किया है। उस परमात्मा की जैसी-जैसी उपासना करेंगे, वैसा-वैसा फल प्राप्त होगा" इस श्रुति के अनुसार तत्क्रतुन्याय को ध्यान में रखते हुए क्रतु का अर्थ होता है - यज्ञ। वेद में ऐसा विधान है कि, जैसा-जैसा यज्ञ करेंगे वैसा-वैसा फल प्राप्त होगा। इसे तत्क्रतुन्याय कहते हैं। टीकाकार इस न्याय की बात कह कर यह समझाना चाह रहे हैं कि, प्रभु में जैसी-जैसी भावना करेंगे, वैसा-वैसा फल प्राप्त होगा। एवं ऊपर कहे कृष्ण-भूमा-ईश्वर के धर्मों को ध्यान में रखते हुए प्रभु के इन स्वरूपों का चिंतन करना आवश्यक है - यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने भगवान् के लिये कृष्ण-भूमा-ईश्वर यों तीन पदों को कहा है। तात्पर्य यह कि हमें यह चिंतन करते रहना चाहिए कि, हमने अपना सबकुछ कृष्ण-भूमा-ईश्वर को समर्पित किया है, जो परब्रह्म हैं, सर्वव्यापि हैं एवं सर्वसमर्थ हैं।

तेन फलमुपपादयन्ति भगवदित्यादि। एकादशस्कंधे "दारान् सुता"निति प्रबुद्धवाक्ये सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मत्वकथनात्, कविवाक्ये च "भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति"रित्यादिश्लोकद्वये विषयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मस्य सामर्थ्याद्विषये विराग स्थिरो भवति। तथा च भक्तिवर्धिन्यां "स्नेहाद्रागविनाशः स्या"दित्यनेन यत्फलमदृढबीजभावस्य स्नेहादुक्तम्, तत्स्थैर्यकथनेन तज्जनकस्य स्नेहस्य दार्ढ्यभवनमत्र फलत्वेन बोधितम्। एवं सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोधलक्षणमिति च।

भूमा-श्रीकृष्ण के ऐसे स्वरूप में सभीकुछ योजन करने का फल आचार्यचरण **भगवद्** शब्द से बता रहे हैं। एकादशस्कंध में कहे "स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण जो कुछ प्रिय लगता हो उसे भगवान् को निवेदन करे(श्री० भा० ११-३-२८)" इस वाक्य से समस्त वस्तुओं का समर्पण करना भगवद्-धर्म कहा गया होने के कारण एवं कविवाक्य में कहे "जो व्यक्ति भगवान् की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवत्प्रेम, भगवद्-अनुभव एवं विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता है(श्री० भा० ११-२-४२)" इन दो श्लोकों में विषयों से वैराग्य हो जाना भगवद्धर्म का फल कहा गया होने के कारण सर्वसमर्पणरूपी भगवद्धर्म के सामर्थ्य से विषयों में वैराग्य दृढ़ हो जाता है। और भक्तिवर्धिनी में "प्रभु में स्नेह होने से सांसारिक विषयों में राग नष्ट हो जाता है(४)" इस श्लोक द्वारा अदृढ़बीजभाव वाले भक्त को भगवत्प्रेम के कारण जो फल प्राप्त होना कहा गया है, उस सांसारिक-वैराग्य की यहाँ स्थिरता-दृढ़ता बताई गयी है। उस दृढ़ता के कारण उत्पन्न हुआ भगवत्प्रेम दृढ़ होता है, और वही दृढ़ता होनी यहाँ फलरूप से बताई जा रही है। इस प्रकार से समस्त वस्तुओं का भगवान् में समर्पण करने का लक्षण ऐसे अदृढ़बीजभाव वाले जीव के निरोध का लक्षण है।

आसक्तिदार्ढ्याय साधनान्तरमाहुः गुणैरिति। द्वितीयस्कंधे "विचक्षणा यच्चरणोपसादना"दिति शुकवाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्गतिं प्राप्नुवतां गतक्लमत्वकथनेन कीर्त्यमानैर्गुणैः हरिसुखस्पर्शात् लौकिकं दुःखं कर्हिचिदपि न भाति, न ज्ञानविषयीभवतीत्यर्थः। अत्र सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्वं कथनेन तस्याधिकाररूपता बोधिता। तेन "श्रद्धामृते"त्यारभ्य आत्मनिवेदिनां भक्तिफलबोधकमेकादशस्कंधीयं भगवद्वाक्यजातं स्मारितम्। तेनात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणेन गुणगानेन [1]दुःखानुसन्धानाभावरूपं फलं सिध्यतीति बोधितम्।

और आसक्ति को दृढ़ करने के लिये आपश्री **गुणैः** इत्यादि शब्दों से दूसरे साधनों को कह रहे हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीयस्कंध में कहे "भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार कि जिनके चरणकमलों की शरण लेकर विवेकी पुरुष लोक-परलोक की आसक्ति निकाल देते हैं, एवं बिना परिश्रम के ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेते हैं(श्री० भा० २-४-१६)" इस शुकवाक्य के अनुसार कीर्तनप्रणालिका द्वारा भगवद्-गति को प्राप्त करने वालों के लिये यहाँ जो बिना परिश्रम के प्राप्त करने वाली बात कही गयी है, उसी बात को यहाँ समझिए कि, भगवद्गुणगान द्वारा हरि का सुखस्पर्श प्राप्त होने के कारण भक्त को लौकिकदुःख कभी नहीं होता, उन दुःखों का भान ही नहीं होता - यह अर्थ है। यहाँ जो भक्त को सबसे पहले समस्त वस्तुओं का भगवान् में समर्पण कहा गया है,

१. दुःखानुसन्धानरूपमिति पाठः।

उससे आचार्यचरणों ने उस भक्त के अधिकार का बोध कराया है और इससे आपश्री ने "जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहे, वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखे, निरंतर मेरी गुणलीला एवं नाम का संकीर्तन करे(श्री० भा० ११-१९-२०)" इस श्लोक से आरंभ होने वाले एकादशस्कंध में भक्तिफल को बताने वाले आत्मनिवेदियों के लिये कहे गये भगवद्-वाक्य स्मरण कराये हैं। इस प्रकार से निवेदनपूर्वक किये गये भगवद्गुणगान द्वारा दुःख का अनुसंधान मिट जाने वाला फल सिद्ध होता है- यह समझना चहिए।

एवं फलमुपपाद्य दाढर्चार्थं तत्कृतिमुपदिशन्ति एवमित्यादि। एवं पूर्वोक्तरीत्या गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षमवधार्य, अमत्सरैरलुब्धैश्च परोत्कर्षासहनं मत्सरः, लोभो गर्धः, अत्यन्ताभिलाषः, ताभ्यां दोषाभ्यां रहितैः, सर्वदा गुणा वर्णनीयाः। उत्कर्ष इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखाभानं ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षः सिध्यतीति शेषेण वाक्यं पूरणीयम्। तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखाभानमात्रम्। ज्ञात्वा वर्णने त्वेष उत्कर्ष इत्युक्तं भवति। तथा चैवं गुणवर्णने तेष्वासक्तौ "तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही"ति न्यायेन भगवदासक्तिदाढर्चे भक्तिवर्धिन्युक्ता गृहारुचिर्गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वभानं च दृढीभवतीत्यर्थबलेन बोधितम्। एवं गुणगानं चासक्तिमतो निरोधलक्षणमित्यपि।

उपर्युक्त रीति से भक्ति के फल का परिचय देकर उसकी दृढ़ता के लिये अब क्या करना चाहिए , इसका उपदेश आपश्री एवं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **एवं** का अर्थ है - आचार्यचरणों ने पूर्व के श्लोकों में जो रीति बतायी है, उस प्रकार से उस रीति के द्वारा गुणवर्णन-भगवद्गुणगान के उत्कर्ष को ज्ञानमार्ग से अधिक समझ कर ईर्ष्या एवं लोभ से रहित भक्तों को सर्वदा भगवद्गुणगान करना चाहिए। किसी दूसरे के उत्कर्ष को सहन न कर पाने का नाम है - मत्सर ; एवं लोभ का अर्थ है - गर्ध अर्थात् अत्यंत अभिलाषा ; इन दोनों दोषों से रहित भक्तों को भगवद्गुणगान करना चाहिए। यदि "उत्कर्ष" पाठ न मान कर "उत्कर्षः" यों प्रथमान्त पाठ मान लिया जाय तो, इस श्लोक में अपनी ओर से एक "सिध्यति" यह पद और जोड़कर अर्थ करना पड़ेगा। और तब पूरा वाक्य इस प्रकार से बनेगा कि- भगवद्गुणगान् द्वारा हरि का सुखस्पर्श प्राप्त होने से दुःख दूर हो जाते हैं, यह जान कर गुणगान की प्रक्रिया का ज्ञानमार्ग की तुलना में अधिक उत्कर्ष सिद्ध होता है। ऐसा अर्थ करने का कारण यह कि, यदि "भगवद्गुणगान द्वारा हरि का सुखस्पर्श प्राप्त होता है" यह जाने बिना गुणगान करें, तो केवल दुःख नष्ट होंगे। परंतु जान कर करें तभी तो गुणगान का उत्कर्ष कहा जायेगा। क्योंकि यदि गुणगान का ऐसा उत्कर्ष जान लेंगे तो गुणगान में हमारी आसक्ति भी हो जायेगी और जिससे विषयों के प्रति वैराग्य दृढ़ हो जायेगा - यह भाव है। तो इस प्रकार गुणगान करने पर भगवद्गुणों में चित्त आसक्त होने पर "भगवद्गुणों में प्रवृत्त होने वाले ही उनमें आसक्त होते हैं" इस न्याय के द्वारा भगवद्-आसक्ति की दृढ़ता होती है और भ०व०ग्रं० में कही गृह में अरुचि, गृहस्थों का बाधक लगना एवं उनमें अनात्मता का भान होना, यह सभी कुछ दृढ़ होता है। इन सभी बातों से यह तो अपने आप ही समझ में आ जाता है कि, यदि भगवद्गुणों में आसक्ति है तो गृह इत्यादि में अरुचि होगी ही। और इससे यह भी बताया गया कि प्रभु में आसक्त होने वाले के लिये भगवद्गुणगान में प्रवृत्ति होनी निरोध का लक्षण है।

अथ व्यसनदाढर्चाय भगवति साक्षात् परम्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूपं साधनान्तरमाहुस्त्रिभिः हरिमूर्तिरित्यादि।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा॥ १७॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्॥ १८॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥

योऽदृढबीजः व्यसनार्थं यतते तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना सदाभीक्ष्णं निरन्तरं वा ध्येया, भगवदभिन्नत्वेन ध्यातव्या। हि यतो हेतोः। तत्र मूर्तौ संकल्पादभिन्नताविचाराद्दर्शनं स्पर्शनं चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम्। पूजाप्रवाहेण तत्र सन्निधाने लब्धे अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तन्यायेन,

अब इसके पश्चात् व्यसन की दृढ़ता के लिये इन्द्रियों को भगवान् में साक्षात् अथवा परंपरा से विनियोगरूप दूसरा साधन अगले तीन श्लोकों द्वारा **हरिमूर्तिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। कुछ इन्द्रियों का विनियोग सीधे-सीधे भगवान् में हो जाता है।

जैसे हस्त-पाद इत्यादि। इसे कहेंगे साक्षात्-विनियोग। और कुछ इन्द्रियों का विनियोग सीधे-सीधे न होकर किसी माध्यम के द्वारा होता है, जैसे- पायु। पायु मलत्याग करके शरीर को स्वच्छ बना कर भगवत्सेवा के योग्य बना देती है अतः परंपरा से उसका भी भगवान् में विनियोग सिद्ध हो गया। इसे कहेंगे - परंपरा से विनियोग। जो अदृढबीजभाववाला भक्त व्यसन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, उसे अपने द्वारा सेव्यमान हरि-भगवान् की मूर्ति का बारबार या निरंतर ध्यान करते रहना चाहिए, उस मूर्ति को भगवान् से अभिन्न मानते हुए ध्यान करते रहना चाहिए। हि शब्द यहाँ हेतु के अर्थ में है। जिससे अर्थ यह बनेगा कि हरिमूर्ति का ध्यान करने के कारण से अर्थात् हेतु से (हि),प्रभु का दर्शन-स्पर्श इत्यादि स्पष्टरूप से होते चले जायेंगे। तत्र का अर्थ है - भगवन्मूर्ति में ; अर्थात् भगवन्मूर्ति में संकल्प द्वारा उसे भगवान् से अभिन्न मानने से चक्षु द्वारा स्वरूपदर्शन एवं त्वचा द्वारा प्रभु को स्पर्श करने का कार्य स्पष्टतया हो जाता है। मूर्ति में पूजन-इत्यादि द्वारा भगवान् की सन्निधि प्राप्त होने पर अन्तर्यामिब्राह्मणग्रंथ में कहे कथनानुसार भगवन्मूर्ति में भगवान् का दर्शन-स्पर्श इत्यादि स्पष्टरूप से प्राप्त हो जाता है। वेद की चार संहिताएँ हैं - ऋक्, यजुष् ,साम एवं अथर्व। पहले वैदिकमन्त्र मिश्रित थे परंतु यज्ञ के लिये उनका वर्गीकरण हुआ जिससे वह ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद कहलाए। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य दूसरे भी लौकिककार्य, वशीकरण, जादू-टोना जैसी सामग्रियाँ थीं, जिनका समावेश अथर्ववेद में किया गया। प्रत्येक वेद के चार भाग होते हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। ब्राह्मणग्रंथों में मन्त्रों के प्रयोग के नियम, उनकी उत्पत्ति एवं उसके समर्थन में प्रवचनों का समावेश है। इसी ब्राह्मणग्रंथ के अंतर्गत "अंतर्यामिब्राह्मण" नामक एक अध्याय है, जिसमें अंतर्यामि-भगवान् का विवेचन दिया गया है। इसमें बताया गया है कि, अंतर्यामि प्रत्येक पदार्थ के भीतर निवास करता है, पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश सभी में निवास करता है। अतः इससे टीकाकार यह बताना चाह रहे हैं कि, यदि अंतर्यामि प्रभु का सर्वत्र निवास है तो भगवन्मूर्ति में भी उसका निवास अवश्य है ही एवं वह गुणगान से प्रकट भी हो जायेगा।

गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे "सम्बन्धादेवमन्यत्रापी"ति सूत्रेऽङ्गीकृते, निबन्धे च "तद्रूपं तत्र च स्थित"मित्येतद्बोधिते भगवदावेशे,

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र के कार्याख्यानाधिकरण में "संबंधात्(ब्र० सू० ३-३-२०)" इस सूत्र द्वारा गुणोपसंहारन्याय से भी भगवन्मूर्ति में साक्षात् प्रभु का दर्शन-स्पर्शन स्पष्ट हो जाता है। यहाँ गुणोपसंहार को समझें। मान लीजिये, किसी वस्तु के किसी स्थान पर कुछ गुण कह दिये गये हों और उसी वस्तु से मिलती-जुलती कोई दूसरी वस्तु भी आ जाय और वह पहली वस्तु से एकदम मिलती-जुलती हो, तो जो गुण पहली वस्तु के लिये कहे गये हैं, वही गुण दूसरी वस्तु में भी कह दिये जायेंगे। इसे गुणोपसंहारन्याय कहते हैं। उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र के सूत्र में भी यही बात कही गयी है अतः टीकाकार इस सूत्र का उदाहरण देते हुए यह कहना चाह रहे हैं कि, इसी प्रकार यदि भगवान् की मूर्ति में भी भगवत्संबंध कहा जा रहा है तो, जो गुण भगवान् में हैं, वही गुण फिर भगवन्मूर्ति में भी माने जायेंगे। इसी कारण आचार्यचरणों ने भगवन्मूर्ति में साक्षात् भगवान् का दर्शन एवं स्पर्श स्पष्टरूप से अनुभव होता है, यह बताया है। इसी प्रकार निबंध में भी आचार्यचरणों ने "भगवन्मूर्ति में ही भगवत्स्वरूप स्थित है(सर्व०नि०-२२८)" यह कहा है अतः इस वाक्य द्वारा भगवन्मूर्ति में भगवद्-आवेश का बोध होने पर

वह्न्ययोगोलकन्यायेन च भगवतस्तद् व्याप्य बहिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः।

एवं वह्न्ययोगोलकन्याय द्वारा भी भगवान् उस भगवन्मूर्ति में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं और मूर्ति के माध्यम से फिर बाहर प्रकट होते हैं, जिससे उनका दर्शन-स्पर्श इत्यादि स्पष्टरूप से हो जाता है। यहाँ वह्न्ययोगोलकन्याय को समझें। वह्नि का अर्थ है - अग्नि। अयः का अर्थ है - लोहा एवं गोलक का अर्थ है - गोला। किसी लोहे के गोले को जब अग्नि में डाल दिया जाता है, तब उसमें चहुँओर से अग्नि व्याप्त हो जाती है। अब उस लोहे के गोले में लोहे के धर्म न होकर अग्नि के धर्म व्याप्त हो जाते हैं। अतः फिर उस गोले से लोहे का व्यवहार न करके अग्नि का व्यवहार किया जाता है। इसे वह्न्ययोगोलकन्याय कहते हैं। इस उदाहरण द्वारा टीकाकार यहाँ यह बात समझाना चाह रहे हैं कि इसी प्रकार भगवान् का भी संपूर्णरूप से उस भगवन्मूर्ति में आवेश हो जाता है और तब वह मूर्ति भी साक्षात् भगवान् के समान ही हो जाती है।

एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति तथा कृतिगती सदेति। उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम् , तथा कृतिगती हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी स्पष्टे। पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन सम्बध्यते सन्दंशात्।

पहले आचार्यचरणों ने चक्षु-त्वचा से दर्शन-स्पर्श की बात कही, अब यही बात आपश्री हस्त और पाद के कार्य के लिये भी **तथा कृतिगती सदा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का कहना यह है कि जैसे पूर्व में कहे अनुसार चक्षु एवं त्वचा को भगवत्संबंधीतया बताया गया, वैसे ही हम हस्त-पाद को भी बता रहे हैं। कृति का अर्थ है - हाथों द्वारा भगवत्सेवा करने का कार्य एवं गति का अर्थ है - भगवत्सेवा करने के लिये पैरों द्वारा चलना। इन दोनों के कार्यों से इनका भगवत्संबंध सदा स्पष्ट ही है। किंतु किसी को यदि यह शंका हो कि, श्लोक में तो "स्पष्ट" पद है, फिर उसे आपने "कृतिगती" इस द्विवचन पद के अर्थ में द्विवचन करके "स्पष्टे" कहाँ से बना दिया ? तो समझना चाहिए कि श्लोक का व्याख्यान करते समय श्लोक के पदों के अनुसार विभक्ति एवं लिङ्ग में परिवर्तन करके समझाया जाता है। अतः "स्पष्ट" पद संदंशन्यायपूर्वक दोनों ढंग से प्रयुक्त हो सकेगा। अर्थात् "स्पष्टं" भी और "स्पष्टे" भी। संदंश का अर्थ होता है - संड़ासी, चिमटा। जिस तरह संड़ासी दोनों तरफ से पकड़ती है, उसी प्रकार जब किसी की पकड़ दोनों तरफ से होती हो, तो उसे संदंशन्याय से बताया जाता है। यहाँ संदंश की बात "स्पष्ट" पद के लिये कही गयी है अर्थात् "स्पष्ट" पद एक ओर से "दर्शनं-स्पर्शनं" पद के साथ भी जुड़ रहा है और दूसरी ओर से "कृतिगती" पद के संग भी जुड़ रहा है।

श्रोतृवाक्कार्ययोस्तथात्वमाहुः श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति। एतयोः प्रकारान्तरेणापि भगवत्सम्बन्धित्वस्य सर्वसम्मतत्वं बोधयितुं स्पष्टपदस्य पुनरुक्तिः। उपस्थे भगवदुपयोगित्वस्यास्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति। "कामः सङ्कल्पजः स्मृतः", "सङ्कल्पप्रभवान् कामा"नित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे, कृष्णस्य प्रिये सति रतिरुपस्थकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः। गोपालतापनीये "यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवती"ति गान्धर्वीं प्रति भगवद्वाक्यस्य श्रावणाद्भगवद्ध्यानात् तादृशसङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ सापि भवतीत्यर्थः। भगवद्विषयककामाभावे तु यथोपस्थहितं भवति तथा प्रकारस्त्वग्रे वाच्यः।

अब इसके पश्चात् कर्ण एवं वाणी के कार्यों का स्पष्ट भगवत्संबंध बताने के लिये आपश्री **श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन दोनों इन्द्रियों का तो दूसरे प्रकार से भी भगवत्संबंध सर्वजनीन है - यह बताने के लिये आपश्री ने पुनः "स्पष्ट" पद का प्रयोग किया है। अर्थात् इन दोनों का भले ही साक्षात् भगवत्संबंध न होता हो, परंतु दूसरे माध्यम से हो ही जाता है- यह तो स्पष्ट ही है। किंतु उपस्थ का भगवत्कार्य में उपयोग होना स्पष्ट नहीं है अतः इसका भगवत्संबंध स्पष्ट करने का प्रकार आपश्री **पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। "काम संकल्प का पुत्र है" , "संकल्प से उत्पन्न हुए काम का त्याग कर देना चाहिए(भ०गी० ६-२४)" इत्यादि वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि, संकल्प का पुत्र काम है अर्थात् जब मन में किसी के प्रति संकल्प करते हैं, तभी काम जन्म लेता है। ऐसे काम के कृष्णप्रिय बन जाने पर उपस्थ से होने वाला कार्य वह रति भी भगवत्संबंधी बन जाती है। गोपालतापनीय उपनिषद् में गांधर्वी के प्रति भगवान् के "मुझको स्मरण करके निष्काम भी सकाम बन जाता है" इस प्रकार के वाक्य सुने गये हैं अतः भगवद्-ध्यान करने से भगवत्संबंधी संकल्प के द्वारा भगवद्विषयक काम की उत्पत्ति होती है और तब उपस्थ से होने वाला कार्य रति भी भगवत्संबंधी बन जाती है - यह अर्थ है। और यदि भगवद्विषयक नहीं है, तो फिर उपस्थ का हित कैसे होगा, यह हम आगे कहेंगे।

पायोर्विनियोगमाहुः पायोरित्यादि। पायोः कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशत्यागरूपः, तेन कार्येण तज्जनकस्येन्द्रियस्य तनौ श्लेषभावं नयेत्। भगवति विनियोज्यमाने स्वशरीरे तच्छोधनद्वारा गुणभावं प्रापयेत्। अत्रायमर्थः। वेणुगीते "अक्षण्वता"मित्यत्र सुबोधिनीस्थास्विन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासु यद्रोमोद्गमरूपं पायुकार्यमुक्तम् , तथा "एषां तु भाग्यमहिमे"ति प्रक्षिप्ताध्यायश्लोकविवरणे "रोमाञ्चस्वेदौ दशमकार्य"मित्युक्तम्। यच्च तृतीयस्कंधे "मुञ्चन्मीलदृशाऽश्रु च" इत्यत्रानन्दाश्रुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारे न सम्भवति, द्वितीयस्कंधे "तदश्मसारं हृदय"मित्यत्र तथा निर्णयात्। अतोत्र "अन्नमशितं त्रेधा भवती"त्यादिछन्दोग्यश्रुत्युक्तोऽन्नयोः स्थूलधातुः मूत्रपुरीषात्मको यश्च "कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च। कर्णविट्

दूषिका चेति धातूनां क्रमशो मला" इति वैद्यकोक्तो मलांशः, स हि पायुनैवेन्द्रियेण तत्तद्देहछिद्रद्वारा निर्गच्छति। तावतैव तस्येन्द्रियस्य विनियोग इति गौणत्वेन शेषता।

अब पायु-इन्द्रिय का विनियोग **पायोः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पायु का कार्य है - त्याग करना ; अर्थात् शरीर के मल का त्याग करना। तो इस कार्य के द्वारा मलत्याग करने वाली पायु-इन्द्रिय को शरीर में शेषभाव प्राप्त कराना चाहिए। शेषभाव का अर्थ है - गौणभाव। पायु-इन्द्रिय का भगवत्सेवा में साक्षात् विनियोग तो है नहीं अतः पायु का कार्य मुख्य न होकर गौण हुआ। अतः यहाँ तात्पर्य यह है कि पायु से मलत्याग का कार्य लेकर उसे शरीर में गौणभाव से देखें, यह अर्थ है। भगवान् में विनियोग किये जाने वाले अपने शरीर में मलशोधन द्वारा पायु को गौणभाव प्राप्त कराएँ। इसका अर्थ यह हुआ कि वेणुगीत में आए "अक्षण्वतां(श्री० भा० १०-२१-७)" इस श्लोक की सुबोधिनी में इन्द्रियों का फल बताने वाली आचार्यचरणों की कारिकाओं में जो रोम-उद्गमरूपी पायु का कार्य कहा गया है, वह ; और, "एषां तु(श्री०भा० १०-१४-३३)" इस प्रक्षिप्त-अध्याय के श्लोक के विवरण में जो आचार्यचरणों ने "रोमाञ्च एवं स्वेद - ये पायु के दसवें कार्य हैं" यह कहा है ; और जो तृतीयस्कंध में "मुञ्चन(श्री०भा० ३-२-५)" इस श्लोक में आनंद के अश्रु बहने जैसा पायु का कार्य बताया गया है, वे कार्य प्रथमाधिकार(जघन्याधिकार)में संभव नहीं होते क्योंकि द्वितीयस्कंध में "हे सूतजी ! वह हृदय नहीं लोहा है, जो भगवान् के मंगलमय नामों का श्रवणकीर्तन करने पर भी पिघल कर भगवान् की ओर नहीं बह जाता। किंतु जिस समय भगवान् के प्रति हृदय पिघलता है, तब नेत्रों से आँसू छलकने लगते हैं एवं शरीर का रोम-रोम खिल उठता है(श्री०भा० २-३-२४)" इस वाक्य द्वारा भगवान् के लिये अश्रु-पुलकादि बहना उत्तमाधिकार का लक्षण कहा गया है। अतः यहाँ "खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। एक भाग मल, दूसरा माँस एवं तीसरा मन में परिणित हो जाता है(छान्दो० ६-५-१)इस छन्दोगश्रुति में कहे वाक्यानुसार जल एवं अन्न की स्थूल धातु क्रमशः मूत्र एवं मल है और जो "कफ-पित्त-मल-छिद्रों का पसीना-नख का मैल-कान का मैल-दूषिका ये सात् प्रकार के धातुओं के मल हैं" इस वैद्यकीयशास्त्र के वाक्यानुसार मलांश हैं ; ये सभी प्रकार के मलांश पायु-इन्द्रिय के द्वारा ही उन-उन छिद्रों से निकलते हैं। पायु-इन्द्रिय का कार्य इतना ही है और इतने कार्य से ही पायु का विनियोग भगवत्सेवा में होता है अतः गौणरूप होने से पायु-इन्द्रिय का शेषभाव कहा गया है।

किञ्च, पूर्वं "संसारावेशदुष्टाना"मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये चामत्सरैरलुब्धैश्चेति कथनाद्गुणवर्णनकर्तृषु तत्सत्ताबोधनेनान्ते चोक्तपायुकार्यकथनेन चैतेषां जघन्याधिकारित्वं बोधितम्। तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृढबीजभावा उक्तास्तदर्थोयमुपदेश इति सूचितम्।

और भी, यह समझें कि पहले जो "संसारावेशदुष्टानां" इत्यादि पदों से इन्द्रियों की दुष्टता आचार्यचरणों ने कही और फिर बीच में भगवद्गुणगान करने वालों के लिये जो "अमत्सरता" एवं "अलुब्धता" से रहने का उपदेश आपश्री ने दिया, इससे पता चलता है कि, ये सभी दोष इनमें थे, तभी तो इन्हें दूर करने का उपदेश आपश्री ने दिया ; और इसी प्रकार अंत में अब आपश्री पायु जो गौणभाव वाली इन्द्रिय है, उसका उपदेश दे रहे हैं, तो इससे पता चलता है कि ऐसे सभी लोगों को आपश्री जघन्याधिकारी बता रहे हैं। इसीलिये भ०व० में जो अदृढ़बीजभाव वाले भक्तों की बात आयी थी, उनके लिये ही आचार्यचरणों का यह उपदेश है - यह सूचित होता है।

किञ्च, अत्र मनःप्रभृतीनां नवानां विनियोजनप्रकार उक्तः, घ्राणरसनयोस्तुविनियोगः कोपि नोक्तः। किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात् तदभावे तदभावः सूचितः। तथा सति तेषां भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः यस्य वेत्यादि। वेत्यनादरे। यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा तस्येन्द्रियस्य विशेषेण निग्रहः संयमः कर्तुमावश्यक इति निश्चयः। तथा च यदि तत्र तेषां निग्रहं न कुर्यात् तदा, "नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता" इत्युक्तन्यायेन विषयदस्युषु पाते संसारावेशरूपं महदेवानिष्टं स्यात् , अतस्तदावश्यकमित्यर्थः। एवञ्च जघन्याधिकारिणां यदुक्तोपदेशरीत्या करणं तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्षणम्। तत्रापि मुत्प्राप्तिश्चेत् ,तदा सुतरां तथेति बोध्यम्। एवं करणे उद्वेगनिवृत्त्या क्रमेण सेवाया [1]आधिदैविकीत्वं सम्पद्यत इत्येतदेव जघन्याधिकारिणां मुख्यं साधनमिति सिध्यति।

एक बात विचारयोग्य है कि यहाँ आचार्यचरणों ने मन जैसी अन्य नौ इन्द्रियों का भगवान् में विनियोग करने का प्रकार तो कह दिया है परंतु नासिका एवं रसना का कोई भी विनियोग नहीं कहा। और यह भी विचारणीय है कि, उपस्थ का विनियोग

१. इत्यादिरूपाधिभौतिकी। अनया सर्वात्मभावः सिद्धांतमुक्तावल्युक्तः ता नाविदन्निति वाक्येन विवृतः, विच्छिद्यते चेदाध्यात्मिक्यपि।

तो भगवत्प्रिय-काम में करना बताया है, अब यदि भगवत्प्रिय-काम नहीं है तो उपस्थ-इन्द्रिय का भी भगवान् में विनियोग होने से रह गया। तो इन इन्द्रियों का भगवान् में उपयोग नहीं होता तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय ? यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण **यस्य वा** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, शरीर की जिस इन्द्रिय का भगवत्कार्य जब स्पष्टरूप से दिखाई न देता हो, तो उस इन्द्रिय का विशेषरूप से निग्रह-संयम करना आवश्यक है - यह निश्चय है। अब कारण कि मुख्यपक्ष तो विनियोग करना है, और उसके बदले इन्द्रियों का निग्रह करना गौणपक्ष है अतः वा शब्द अनादर अर्थ में है क्योंकि यह निग्रहपक्ष को बता रहा है। और यदि इन इन्द्रियों का निग्रह नहीं करेंगे तो "नहीं तो ! तनिक भी प्रमाद हो जाने पर ये इन्द्रियरूप घोड़े और उनकी सारथीरूप बुद्धि, रथ के स्वामी जीव को उल्टे रास्ते ले जा कर विषयरूपी लुटेरों के हाथ में डाल देंगे(श्री०भा० ७-१५-४६)" इस वाक्यानुसार विषयरूपी लुटेरों के हाथों गिर जाने पर संसारावेशरूप महद्-अनिष्ट होगा अतः इनका निग्रह करना आवश्यक है। इस प्रकार से जघन्याधिकारियों को ऊपर कहे उपदेश की रीति से जो निग्रह करना बताया गया, वह भी उनके अनुपात में उनके लिये उचित निरोध का ही लक्षण है। अब निग्रह करने में भी आनंदप्राप्ति होती हो, तो उनका स्तर इससे भी ऊपर समझना चाहिए। सो, कुल मिलाकर इस प्रकार से इन्द्रियों का निग्रह करने पर जो उनके उद्वेग की निवृत्ति होती है, उस निवृत्ति से उनकी सेवा आधिदैविक बनती है अतः यही प्रक्रिया जघन्याधिकारियों के लिये निरोधप्राप्ति का मुख्य साधन है - यह बात सिद्ध होती है।

एवं सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितुं ग्रन्थान्तर उपदिष्टेभ्यः साधनान्तरेभ्यः एतस्य साधनस्योत्कर्षं वदन्ति नात इत्यादि।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

जघन्याधिकारिणामतः उक्तात् साधनजातात् परतर उत्कृष्टतरः मन्त्रोष्टाक्षरादिर्न। तदावर्तनं हि सेवाकरणाङ्गत्वेनोक्तम् , अनुकल्पत्वेन च, अतस्तथेत्यर्थः। एवमग्रेपि बोध्यम्। स्तवः कृष्णाश्रयादिस्तोत्रपाठः, सोपि तथा, अनुकल्पत्वादङ्गत्वाच्च, विवेकधैर्याश्रये तथैवाङ्गीकारादिति। विद्या उपासना, तीर्थं गङ्गादि, तयोरपि भगवत्कृपाभावे विलम्बेन फलसाधकत्वात् , श्रुतौ तत्क्रतुन्यायादरणात् , भारते च यज्ञतीर्थयोः समानफलत्वेन कथनात् तयोरत्र पृथगुक्तिः। तेन जघन्यानामधिकारिणामत्रोक्तं [1]योजनादि साधनत्रयमेवात्यावश्यकम्। तेनैव स्नेहासक्तिव्यसनानां क्रमेण गृहत्यागोत्तरं पूर्वोक्तनिरोधात्मकभक्तिवृद्धिसिद्धिरिति निष्कर्षः।

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरण सभी कुछ उपदेश करके जघन्याधिकारियों की प्रवृत्ति निरोधमार्ग की ओर हो जाय, इसके लिये अन्य ग्रंथों में उपदिष्ट किये गये अन्य साधनों की तुलना में इस ग्रंथ में कहे साधन का अधिक उत्कर्ष **नातः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में आचार्यचरण कहना चाह रहे हैं कि, जघन्याधिकारियों के लिये इस ग्रंथ में कहे साधनों से परतर-उत्कृष्टतर मन्त्र अष्टाक्षर आदि भी नहीं हैं। क्योंकि अष्टाक्षर का रटन तो सेवा करने के अंगभूत कार्य के रूप में कहा गया है, एवं प्रभुसेवा करनी संभव न होती हो तो अनुकल्प के रूप में। अतः अष्टाक्षर आदि मन्त्र तो सेवा के अंगरूप अथवा तो अनुकल्परूप साधन के तौर पर हैं, जबकि इस ग्रंथ में कहे साधन तो साक्षात् फल हैं अतः आचार्यचरण इन्हें उत्कृष्टतर कह रहे हैं - यह अर्थ है। इसी ढंग से आगे भी समझ लें कि, स्तवः अर्थात् कृष्णाश्रय इत्यादि स्तोत्रपाठ भी तो प्रभुसेवा के अनुकल्परूप एवं अंगरूप हैं क्योंकि वि०धै०आ० ग्रंथ में यही बात स्वीकारी गयी है अतः इस ग्रंथ से उत्कृष्टतर कोई दूसरा स्तव भी नहीं है। विद्या का अर्थ है - उपासना ; तीर्थ का अर्थ है - गङ्गा जैसे तीर्थ। ये दोनों भी भगवत्कृपा के बिना विलंब से फल सिद्ध करते हैं। श्रुति में यह बात कही गयी है कि, यज्ञ द्वारा विलंब से फलसिद्धि होती है एवं महाभारत में भी यज्ञ एवं तीर्थ की समानरूप से विलंबता से फलसिद्धि प्राप्त होनी बताई गयी है। अतः आचार्यचरणों ने यहाँ तीर्थ एवं विद्या को अलग-अलग कह कर बताया है। इस प्रकार से जघन्याधिकारियों के लिये कहे गये योजन के तीन साधन(अर्थात् १-समस्त वस्तुओं का भगवान् में विनियोग, २-सभी इन्द्रियों

१. सर्वसमर्पणात्मकं योजनं तदादि।

का भगवान् में विनियोग, ३-कुछ इन्द्रियों का निग्रह) ये तीन साधन अत्यंत आवश्यक हैं। इन्हीं तीन साधनों द्वारा स्नेह-आसक्ति-व्यसन के क्रम से गृहत्याग करने के पश्चात् पूर्व में कहे निरोध के स्वरूपवाली भक्तिवृद्धि की सिद्धि होगी - यह निष्कर्ष है।

चाचागोपीशाः श्रीहरिरायाश्च "हरिणा ये विनिर्मुक्ता" इति श्लोकोत्तरं "संसारावेशश्लोकं" पठन्ति, तदग्रे च "गुणेष्वाविष्टचित्ताना"मित्यादीन् क्रमेण श्लोकान् पठन्ति। व्रजराजास्तु येन क्रमेण पेठुः, तेन क्रमेण मया व्याख्यातम्। व्याख्यानप्रकारस्तु सर्वेषां नैकविध इति मया स नानूदित इति दिक्॥ २०॥

आचार्यवर्यकृपया हृदयस्थितेन यत् प्रेरितं भगवता व्रजनायकेन॥

तद्वाक्यजातमलिखत् पुरुषोत्तमाख्यः श्रीविट्ठलेशचरणाम्बुजदासदासः॥ १॥

इति श्रीपीताम्बरात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमेन विरचिता निरोधलक्षणवर्णनविवृतिः।

चाचागोपीशजी ने एवं श्रीहरिरायजी ने इस ग्रंथ में "हरिणा ये विनिर्मुक्ता" इस श्लोक के पश्चात् "संसारावेश" श्लोक माना है। और इसके आगे "गुणेष्वाविष्टचित्तानां" इत्यादि श्लोकों से तो वे क्रमपूर्वक मानते हैं। किंतु व्रजरायजी ने जिस क्रम से इन श्लोकों को पढ़ा है, उसी क्रम से मैंने भी इनकी व्याख्या की है। सभी का अपना-अपना अनेक प्रकार से व्याख्यान करने का ढंग है अतः मैं इनके विषय में कुछ नहीं कहता॥ २०॥

आचार्यवर्य की कृपा से मेरे हृदयस्थित भगवान्- व्रजनायक ने मुझे जो प्रेरणा दी, उसे वाक्यरूप में श्रीविट्ठलचरणाम्बुज के दासानुदास मुझ पुरुषोत्तम ने लिखा है॥

यह श्रीपीताम्बरात्मज श्रीपुरुषोत्तम द्वारा विरचित निरोधलक्षणवर्णन की विवृत्ति संपूर्ण हुई।

१. व्याख्याने प्रकारद्वयम्। भक्त्यनुगुणः, शास्त्रार्थरीत्या बुभुत्सुबोधकश्च। तत्रायं द्वितीयः।

श्रीकृष्णाय नमः

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणसमेतम्

व्रजस्त्रीहृद्यगिरिषु रोमालियमुनातटे । तद्बाहुलतिकावृन्दे क्रीडन्कृष्णो विराजते ॥ १ ॥

गोपीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डाचार्यसंस्कृतः । मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥ २ ॥

स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः । स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥ ३ ॥

श्रीविट्ठलेशपादाब्जकृपारससुवृष्टिभिः । निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितोभवत् ॥ ४ ॥

व्रजगोपिकाओं के वक्षस्थलरूपी पर्वत पर, रोमपंक्तिरूप यमुना तट पर, उनके बाहुरूप लतिकावृंद में, क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण सुशोभित हैं ॥ १ ॥

गोपीश के कमलरूपी प्रेममार्ग को खिलाने वाले सूर्यरूपी आचार्यचरणों द्वारा संस्कृत किया हुआ श्रीगोपिकाधीश का निरोध-महाफल मुझे प्राप्त हो ॥ २ ॥

अपने आचार्यचरणकमलों द्वारा निरूपित निरोधलक्षण मैं उनकी कृपा द्वारा स्वीयजनों की सुगमता के लिये विवृत कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

श्रीविट्ठलेश के चरणकमलों के कृपारस की वर्षा द्वारा सिञ्चित हुआ निरोधकल्पवृक्ष मुझे फलित हुआ ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति । तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात्तत्र च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति । यच्चेति पूर्वं येन प्रकारेण व्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः स मयि नास्तीति तदभावजदैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावात्पूर्वमभूत् तद्दुःखं मम क्वचित्स्यादिति सम्बन्धः। भगवदाविर्भावाज्ज्ञायते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं दुःखमभूद्येन भगवदाविर्भावोऽजनि। अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो भवेत्। चकारत्रयेण तत्सम्बन्धिनामपि तादृग्दुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते। अन्यथा संसर्गतोपि दोषः स्यात्। क्वचिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोग्यत्वज्ञापनाय। गोकुल इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम्। यतस्तत्रानभिज्ञतेति न चातुर्यकापट्यादिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव ॥ १ ॥

अब श्रीमदाचार्यचरण स्वीयजनों को कृपापूर्वक निरोधफल देने की इच्छा से निरोध का स्वरूप विवृत कर रहे हैं। निरोध का अर्थ भगवान् की फलात्मक क्रीड़ा है(फलात्मक-अनुशयन)अतः क्रीड़ा करने के लिये सर्वप्रथम तो भगवान् का प्राकट्य होना अपेक्षित है अतः जिस प्रकार से भगवान् का प्राकट्य होकर क्रीड़ात्मक निरोध सिद्ध हो जाये, उसका विवरण श्रीमदाचार्यचरण कर रहे हैं। श्लोक में आपश्री के **यच्च** शब्द का अर्थ यह है कि- जिस प्रकार से व्रज में व्रजवासियों को भगवान् के बिना दुःख था और उस दुःख को दूर करने के लिये उनका निरोध करने के लिये प्रभु आविर्भूत हुए थे ; आपश्री कहते हैं कि, भगवान् के प्राकट्य के अभाव में वैसा दुःख मुझमें नहीं है अतः उस दुःख की प्राप्ति के लिये इस प्रकार से प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे वह दुःख प्राप्त हो जाय अतः आपश्री इस बात को **यच्च** इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं।

श्लोक का अर्थ यह है कि- जो दुःख गोकुल में यशोदाजी, नन्द आदि एवं गोपिकाओं को भगवान् के आविर्भूत होने से पहले हुआ, वह दुःख आपश्री कहते हैं कि, मुझे कब होगा ? भगवान् के आविर्भाव की बात आने से यह ज्ञात होता है कि, गोकुल में रहने वाले समस्त व्रजवासियों को ऊपर कहे अनुसार वह दुःख हुआ, जिस दुःख के कारण भगवान् का आविर्भाव हुआ। अन्यथा निःसाधनता से प्रसन्न होने वाले भगवान् उनके दुःख के बिना भी प्रकट हो गये होते परंतु उन सभी के दुःख के बाद ही प्रभु प्रकट हुए। इस श्लोक में तीन बार "च" आया है, जिसका अर्थ यह है कि - यशोदाजी, नन्द आदि एवं गोपिकाओं से संबंधित अन्य व्रजवासियों को भी भगवान् के विरह का दुःख हुआ। यदि अन्य संबंधित व्रजवासियों को भी दुःख न हुआ होता तो, उन लोगों के संसर्ग के कारण नंद-यशोदा-गोपिकाओं का भाव भी दूषित हो गया होता। आचार्यचरणों ने अधिक दीनता बताने के लिये ऐसे निरोध के लिये अपनी अयोग्यता बताते हुए "मुझे ऐसा दुःख कब होगा(क्वचित्) ?" यों लिखा है। आपश्री ने "गोकुल" पद का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि, वहाँ रहने वाले समस्त गोकुलवासी निर्दोष थे क्योंकि वे ग्रामीण थे और सभी वस्तुओं से अनभिज्ञ थे। उन्हें अपनी किसी चतुराई या कपट के कारण भगवत्संबंधी दुःख न हुआ, अपितु उन्हें जो भी भगवत्संबंधी दुःख हुआ, वह तो सहज ही था ॥ १ ॥

एतद्दुःखानन्तरभावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिव भवेदिति प्राथनीयं दैन्येनेवेत्याशयेनाहुः गोकुल इति।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकुले, तु पुनः सर्वेषां व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते यत्सुखं समभूत्तत्सुखं भगवान् किं मे विधास्यति। अत्रायं भावः। गोपिकानामिन्द्रियकुले "आत्मानं भूषयाञ्चक्रु"रिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः। तस्य भावस्यात्यन्तं दुर्लभत्वात्क्रमेण भविष्यतीति [1]भावः। तु पुनः सर्वेषामेव व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं कृतवन्तस्तादृशं मे भगवान् विधास्यति ॥ २ ॥

इसके पश्चात् आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसे दुःख के पश्चात् भगवान् के आविर्भाव से होने वाला सुख भी मुझे हो, जैसा सुख गोकुलवासियों को हुआ अतः उस सुख के लिए भी प्रभु से दीनतापूर्वक ही प्रार्थना करनी चाहिए। इसे आपश्री अग्रिम श्लोक में **गोकुल** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

गोकुल शब्द का अर्थ है - इन्द्रियकुल में। क्योंकि "गो" शब्द का एक अर्थ इन्द्रिय भी होता है अतः अर्थ यह हुआ कि, गोपिकाओं को अपनी समस्त इन्द्रियों में एवं समस्त व्रजवासियों को भगवान् के आविर्भाव के पश्चात् जो सुख हुआ, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, क्या वह सुख भगवान् कभी मुझे देंगे ? यहाँ भाव यह है कि, गोपिकाओं को अपनी समस्त इन्द्रियों में श्रीमद्भागवत के "यशोदाजी के पुत्र हुआ है, यह जानकर गोपियों को बड़ा आनंद हुआ। उन्होंने सुंदर वस्त्र, आभूषण और अंजन आदि से अपना श्रृंगार किया(१०-५-९)" इस वाक्यानुसार जैसा आनंद हुआ, वैसा गोपिकाओं को दिया आनंद षड्गुण-ऐश्वर्ययुक्त-भगवान् अपना सर्वदानसमर्थ वाला स्वरूप संपादित करके मुझे दें- यह आपश्री का समग्र मनोरथ है। मन में ऐसे प्रकार का भाव होना बड़ा दुर्लभ है अतः ऐसा भाव अचानक से न होकर क्रमवार शनैः शनैः होगा - यह भाव है। और फिर समस्त व्रजवासियों को भगवान् के आविर्भाव के पश्चात् जो आनंद हुआ और जिस आनंद के कारण बच्चे-बूढ़े सभी उल्लसित होकर नाचने-कूदने लगे, वैसा आनंद आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, मुझे क्या भगवान् देंगे ? ॥ २ ॥

ततो भगवन्नित्यस्थित्यात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः उद्धवेति।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवागमने जाते वृन्दावने व्रजस्त्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिद्भगवान्करिष्यतीति सतापमनोरथः। सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवाद्विशिष्टत्वं ज्ञाप्यते। तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवानत्रागत इति

१. भाव्येति पाठः।

तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो व्रजनित्यस्थित्यज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमदुद्धवैरत्र [1]नित्यस्थितिर्दृष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वस्माद्विलक्षणो जातस्तथाचार्यैः श्रीभागवतविवृतौ प्रपञ्चितम्। तादृश उत्सवो मम मनसि क्वचित्स्यादिति भावः।

इसके पश्चात् आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में भगवान् की नित्यस्थितिरूप(अर्थात् भगवान् के विरह का दुःख न हो, ऐसी स्थिति)आनंद वाले सुःख की प्रार्थना उद्धव इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण इस श्लोक में आज्ञा करते हैं कि, उद्धवजी के आगमन पर वृंदावन में व्रजस्त्रियों एवं गोकुल में नंद-आदि को जैसा सुमहान उत्सव हुआ, वैसा उत्सव मेरे मन में भगवान् कब उत्पन्न करेंगे, यह उनका तापसहित मनोरथ है। इस श्लोक में कहे उत्सव को आपश्री ने "सुमहान" कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, इससे पूर्व के श्लोकों में कहे उत्सव की तुलना में यह उत्सव कहीं अधिक विशिष्ट है। वह इसलिये क्योंकि उद्धवजी के व्रज में आने से पूर्व मथुरावासियों के मन में यह था कि, भगवान् व्रज छोड़कर यहाँ मथुरा आ गये हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि, व्रजवासी भगवदीय नहीं हैं, वर्ना प्रभु उन्हें छोड़कर यहाँ क्यों आते ? उन्हें ऐसा इसलिये लगा क्योंकि वह यह नहीं जानते थे कि, भगवान् का तो व्रज में नित्यनिवास है, फिर भले ही वे मथुरा में क्यों न हों। श्रीमद्-उद्धवजी ने भी व्रज में आने के पश्चात् प्रभु की यहाँ नित्यस्थिति देखी अतः जब पुनः मथुरा लौटने के पश्चात् वे मथुरावासियों को यह बात बतायेंगे, तब मथुरावासी भी - व्रजवासियों के संग प्रभु का घनिष्ठ संबंध है - यह जान जायेंगे। इस बात का विचार कर-करके व्रजवासियों के मन में एक विलक्षण उत्सव जागा। जो उत्सव पूर्व के श्लोक में कहे उत्सव से अधिक विलक्षण था। इस बात का विवरण आचार्यचरणों ने अपनी श्रीमद्भागवत की विवृत्ति में विस्तार से किया है। ऐसा उत्सव आपश्री कहते हैं कि, मेरे मन में कब होगा ? यह भाव है।

यद्वा, गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्भावप्राप्त्यर्थं तच्चरणरजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि स्यादिति भावः। यद्वा, उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्थमत्र प्रेषितस्तेनात्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस्य च नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, तेन तस्यागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः। यतो सर्वात्मभावस्तथैव भवत्येतदेव निरोधस्थानं, तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्त इत्युत्सवो भवति तद्दानार्थं वा तदा मे मदुपरि भगवन्मनसि तासां वा स्यादिति भावः। ३॥

अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, गोकुल अथवा तो वृन्दावन में उद्धवजी का आगमन होने पर उन्होंने वहाँ जो भगवद्भक्त देखे और उन भक्त गोपीजनों को देखने के पश्चात् उनका भाव हृदयारूढ़ करने के लिये उनके चरणरज से संबंध हो जाय, ऐसा कोई पशु-पक्षी, लता-वृक्ष इत्यादि के रूप में जन्म लेने का जो उत्सव उद्धवजी के मन में हुआ, वैसा उत्सव आचार्यचरण कहते हैं कि, मेरे मन में कब होगा ? अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, भगवान् ने उद्धवजी को व्रज में इस कारण भेजा ताकि उनमें भी सर्वात्मभाव उत्पन्न हो। और इस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को व्रजभक्तों की महत्ता बताई एवं यह बताया कि, वे व्रज में सदा निवास करते हैं। अतः आचार्यचरण कहते हैं कि, उद्धवजी के व्रज में आने के पश्चात् गोकुल अथवा वृंदावन में जैसा उत्सव हुआ, वैसा मेरे मन में कब होगा ? क्योंकि सर्वात्मभाव तो व्रजभक्तों का भाव समझकर ही हो सकता है एवं निरोध का स्थान भी यही व्रजमंडल ही है। अतः प्रभु को जिन जीवों पर निरोध का दान करने की इच्छा होती है, उसे वे वहीं वृंदावन-गोकुल में भेजते हैं। और जिसे भेजते हैं, उसके मन में उत्सव होता है। आपश्री कह रहे हैं कि, इस निरोध का दान मुझ पर करें- ऐसा भगवान् के मन में अथवा गोपिकाओं के मन में आये, यह भाव है॥ ३॥

नन्वेतावान्मनोरथो भावनयैव कथं सिध्येदित्याशंक्य श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यतीति विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः महतामिति।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि॥ ४॥

---

[1] नित्यस्थितिदृष्टीति पाठः।

महतां कृपया भगवान्यावत् दययिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोक्ताय स भावो भवतीत्यर्थः। यद्वा, भगवान्यावत् महतां कृपां करोति तावत्कृपया जीवस्य सतापदैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय स्यादिति भावः। भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दययिष्यति तावद्वा स्यात्। अयमर्थः। यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः स्यादिति भावः॥ ४॥

किंतु , एक शंका यहाँ यह होती है कि, इतना मनोरथ केवल मन में भावना कर लेने से ही हमें कैसे सिद्ध हो जायेगा ? इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि, श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा द्वारा ही ऐसा मनोरथ सिद्ध होगा अतः उनके चरणारविंदों में विश्वास रखते हुए मन में भावना करनी चाहिए, तब मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा - इस बात को आपश्री **महतां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का अर्थ यह है कि, महद्-जनों की कृपा द्वारा भगवान् जब जीव पर दया करेंगे, तब तक अर्थात् वह समय आने तक कीर्तन से प्राप्त होने वाले सुख के लिये(जिस सुख की बात पूर्व के श्लोक में कही, वह सुख)भगवान् अपना कृपारूप-आनंदसंदोह उसे देंगे - यह अर्थ है। अर्थात् जिस समय भगवान् कृपा करेंगे, वह समय आने तक वह जीव कीर्तन से प्राप्त होने वाले सुख से परिपूर्ण रहेगा - यह अर्थ है। अथवा, इस श्लोक का अर्थ यों करें कि, भगवान् जितनी मात्रा में महद्-जनों अर्थात् गोपीजनों पर कृपा करते हैं, उतनी ही मात्रा में वह जीव को तापसहित देखने के पश्चात् उस पर करेंगे ; और तब कीर्तन से होने वाला सुख आनंदसंदोहरूप होगा। तात्पर्य यह कि, भगवान् कीर्तन से प्राप्त होने वाले सुख के लिये महद्-जनों की कृपा द्वारा दया करेंगे, तब ही उसे आनंदसंदोह प्राप्त होगा। अर्थ यह हुआ कि, जब भगवान् दया करेंगे, उसके पहले ही महद्-जनों की कृपा से कीर्तनसुख आनंदसंदोहरूप होगा - यह भाव है॥ ४॥

ननु श्रीमदुद्धवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखसम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेपि तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशंक्याहुर्महतामिति।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥ ५॥

महतां कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः। अयं भावः। सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम् , प्राणबाधायां जीवनार्थं भवतीति भावः। यद्वन्महत्वमित्यर्थः। ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं नानुभवसिद्धमित्याशंक्यास्यालौकिकत्वात्तथा भवति। लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न तथेति। तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः। तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति। स्निग्धभोजकस्य रूक्षवत् , रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः॥ ५॥

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, श्रीमद्-उद्धव के आगमन के पश्चात् व्रज में होने वाला उत्सव तो और विप्रयोग को उत्पन्न करने वाला है एवं प्रभु उनके संग न आकर मथुरा में ही हैं - इस प्रकार से सोच कर व्रजभक्तों को दुःख होने की संभावना है अतः भले ही महद्-जनों की कृपा से सुख मिल भी गया हो तथापि इस विप्रयोग की परिस्थिति में कैसे निर्वाह हो ? इसका समाधान आपश्री अग्रिमश्लोक में **महतां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री का कहना यह है कि, महद्-जनों की कृपा से भगवत्कीर्तन सदा सुखदायी रहता है। भाव यह है कि, विप्रयोग-काल में भी उनकी ही कृपा से भगवत्कीर्तन सुखदायी रहता है। जहाँ विप्रयोग में प्राणों पर आ बनी हो, ऐसे में भगवत्कीर्तन जीवन का आधार बनता है। जैसे महापुरुषों की महत्ता सदैव एक जैसी बनी रहती है, वैसे ही उनकी कृपा से प्राप्त हुआ कीर्तन भी सदैव सुखकारी बना रहता है, चाहे संयोग हो या विप्रयोग - यह अर्थ है। किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, विप्रयोग-अवस्था में गुणगान से जीवन मिल गया हो, ऐसा तो कहीं अनुभव में नहीं आया है, फिर ऐसा होना कैसे संभव है ? वहाँ यह समझना चाहिये कि भगवद्गुणगान के अलौकिक होने के कारण ऐसा होना संभव होता है। लौकिकजनों के द्वारा प्राप्त किया गया गुणगान सुखदायी नहीं होता अतः आपश्री **न तथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका उदाहरण आपश्री **स्निग्धभोजनरूक्षवत्** इत्यादि

शब्दों से दे रहे हैं। अर्थात् मालदार भोजन करने वाले को जैसे रूखा-सूखा भोजन दे दिया जाय, वैसा लगता है। रूखाभोजन जैसे सुख नहीं देता, वैसे लौकिकजनों के द्वारा प्राप्त किया गया गुणगान भी सुखदायी नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ५॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानस्येत्याशंक्याहुः गुणगान इति।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥ ६॥

गोविंदस्य गुणगाने यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः। शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखः स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वयमेवावश्यः कथयेन्न तु स्वामिन्य एवं गानं कुर्वन्तीति वदेत्। यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः। अन्यथा भगवानिव तेपि तद्दुःखदुःखिता भवेयुः। भगवतस्तथात्वं "मणिधर" इति श्लोकादिषु निरूप्यते।

किंतु सुना तो यह गया है कि, ज्ञान प्राप्त होने पर दुःख का निवारण होता है, किंतु गुणगान दुःख का निवारण करता है, ऐसा कहीं सुना नहीं है। इस पर आपश्री **गुणगान** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक में आपश्री समझाते हैं कि, गोविन्द के गुणगान में जैसा सुख मिलता है, वैसा सुख तो शुकदेवजी जैसों को आत्मा में भी नहीं मिलता, फिर अन्यों को मिलने की तो बात ही दूर रही, यह अर्थ है। यदि शुकदेवजी को गुणगान के द्वारा पुष्टिमार्गीय-सुख मिला होता तो अपने सुखानुभव की बात उन्होंने अवश्य कही होती, यह न कहा होता कि व्रजगोपिकाएँ इस प्रकार प्रभु का गुणगान करतीं थीं और उन्हें सुख मिलता था। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, अपने भक्त द्वारा गुणगान करने पर भगवान्-गोविंद को भी जैसा सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख तो शुकदेवजी-आदि की आत्मा में भी प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है। यदि ऐसा न होता तो, भगवान् की भाँति शुकदेवजी भी व्रजभक्तों के दुःख से खुद दुःखी हुए होते। भगवान् का भक्तों के दुःख में दुःखी एवं सुख से सुखी होने का स्वभाव तो "मणिधर(श्री०भा० १०-३५-१८)" इत्यादि श्लोकों में निरूपित किया गया है।

यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखावाप्तिः पुष्टिस्थानां भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः। अयमर्थः। गोविन्दपदेन व्रजवधूनामिन्द्रस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासां तथा भवति। शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः। अत एव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तौतदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति "सभगवानथ विष्णुरात"मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम्॥ ६॥

अथवा यों अर्थ कर लें कि, गोविन्द के गुणगान में जैसा सुख पुष्टिमार्गीयों को मिलता है, वैसा सुख भगवान् के गुणगान के आनंद से सुखी होने वाले शुकदेवजी जैसे योगियों को भी नहीं मिलता, यह अर्थ है। यहाँ तात्पर्य यह है कि, गोविंद पद से व्रजगोपिकाओं के जो इंद्र हैं अर्थात् गोपिकाओं के जो स्वामी हैं, उन पुष्टिपुरुषोत्तम की ओर संकेत है। उन पुष्टिप्रभु के गुणगान से ही गोपियों को वैसा सुख मिलता है। शुकदेवजी ने तो भगवान् के समस्त अवतारों से मिश्रित चरित्रों का गुणगान किया है अतः उन्हें ऐसा सुख नहीं मिल पाया, यह भाव है। अतएव श्रीमद्भागवत के निरोधचरित्र को बताने वाले दशमस्कंध के प्रथम अध्याय में "सभगवानथ विष्णुरातं(१०-१-१४)" इस सूतजी के वाक्य के लिये आचार्यचरणों ने सुबोधिनीजी में यह कहा है कि, शुकदेवजी के रूप में स्वयं भगवान् ही राजा परीक्षित् के प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे। अतः शुकदेवजी ने समस्त अवतारों के चरित्रों का गान तो किया परंतु कृष्णलीला तो स्वयं भगवान् ने ही बताई अतः शुकदेवजी को भला वह आनंद कैसे मिल सकता था॥ ६॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके कृपां कुर्यादित्याशंक्य तत्स्वरूपमाहुः क्लिश्यमानानिति।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥ ७॥

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं बहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः। अत्रायं भावः। गुणगानस्य विप्रयोगतापे जीवनैकस्वभावत्वात्तत्तापात्यर्थं भगवदिच्छाकांक्षया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो

भवेत्तदा हृदिस्थं स्वहृदिस्थं सर्वसदानन्दमाधिदैविकशक्तिरूपं बहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः। गुणगानकर्तुर्भावात्मकस्वरूपं तद् हृदिस्थं बहिः प्रकटं कुर्यादिति वा॥ ७॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि, केवल गुणगान करने मात्र से ही भगवान् उस निरोधात्मक-जीव पर कैसे कृपा करेंगे ? इसके समाधानरूपेण अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण **क्लिश्यमानान्** इत्यादि शब्दों से भगवान् का स्वरूप कह रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक में आपश्री कहते हैं कि, भगवान् जब अपने क्लेशयुक्त जीवों को देखकर कृपालु होते हैं, तब उनके हृदय में स्थित सर्व-सदानन्द भगवान् बाहर प्रकट होते हैं। यहाँ भाव यह है कि, विप्रयोग का ताप होने पर भगवद्गुणगान ही उसे जीवन दे सकता है। और उस ताप को प्राप्त करने के किये भगवद्-इच्छा से ताप सहन करने पर जब जीव भगवद्गुणगान करता है, तब ऐसे लौकिक देहधारी(क्योंकि अलौकिक देह वाले जीवों के लिये तो ताप आनंददायी ही होता है) जीवों को क्लेशयुक्त देखकर प्रभु कृपायुक्त होते हैं("यदा" शब्द से ज्ञात होता है कि, भगवान् द्वारा ऐसी कृपा करके बाहर प्रकट होना बड़ा दुर्लभ है), तब जीव के हृदय में विराजे हुए भगवान् अपने सर्व-सदानन्द-आधिदैविक शक्तिरूप को बाहर प्रकट करते हैं, यह अर्थ है। अथवा तो यों समझें कि, भगवद्गुणगान करने वाले जीव के हृदय में विराजे हुए भगवान् अपने भावात्मक स्वरूप को बाहर प्रकट कर देते हैं॥ ७॥

ननु भगवतः सर्वमेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्दरूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशंक्याहुः सर्वानन्दमयस्यापीति।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥ ८॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः। सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणादयोपि भगवद्रूपा जीवेषु रसरूपप्रतिपादक-पूर्वकरसदातार इति ज्ञाप्यते। एतज्ज्ञापनायैव मयट्प्रयोगः। मयट् प्राचुर्ये। तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः। अत एव गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम्। अपिशब्देन बहिःस्वरूपप्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते। स च कुमारिकाव्रतायावान्तरफलपरमफलरूप इति भावः। तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिस्तथैव सर्वत्र निरोधाधिकारिणामित्याशयः। कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहैकलभ्यत्वं ज्ञाप्यते।

किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, भगवान् तो संपूर्णरूप से आनंदमय स्वरूप हैं अतः उनके गुण भी आनंदरूप ही हैं ; सो गुणगान भी आनंदरूप ही हुआ। तब भगवान् का कृपा करके अपने भावात्मक आनंद को बाहर प्रकट करने में विशेष क्या है ? मात्र गुणगान भी तो आनंद दे सकता है ? इस शंका का समाधान आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **सर्वानन्दमयस्यापि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

समाधान यह है कि, सर्वानंदमय भगवान् का भी कृपानंद प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। **सर्वानंदमय** शब्द के द्वारा यह ज्ञात होता है कि, भगवान् के गुण-आदि भी भगवद्-रूप ही हैं और जीवों में रसरूपता का प्रतिपादन करके उन्हें रस देने वाले होते हैं। यही बात बताने के लिये आपश्री ने यहाँ मयट्-प्रत्यय का प्रयोग किया है। मयट्-प्रत्यय(मय) प्रचुरता के अर्थ को बताने के लिये प्रयोग किया जाता है। इससे यह समझ में आता है कि, समस्त भगवदीय वस्तुएँ प्रचुर आनंदरूप हैं। इसी कारण अपने गुणगान को सुनकर प्रसन्न होकर भगवान् ने जो रमण किया, वह फलप्रकरण के अन्तर्गत दूसरे अध्याय में निरूपित किया गया है। श्लोक में प्रयुक्त हुए "अपि" शब्द से यह समझ में आता है कि, बाहर प्रकट होने वाले प्रभु के कृपानंद-स्वरूप को आचार्यचरण कुछ विशेषरूप से यहाँ कहना चाह रहे हैं। और यही प्रभु का कृपानंदस्वरूप कुमारिकाओं के व्रत के पश्चात् उन्हें अवान्तर फल के रूप में एवं परमफल के रूप में प्राप्त हुआ था। कुमारिकाओं को व्रत करने के पश्चात् जो प्रभु के कृपानंद-स्वरूप का तात्कालिक दर्शन प्राप्त हुआ, वह है अवान्तरफल। उस दर्शन के पश्चात् जब उन्हें रास में प्रवेश मिला, वह है परमफल। उन कुमारिकाओं को जिस प्रकार भगवद्गुणगान के पश्चात् परमफल की प्राप्ति हुई, उसी प्रकार यहाँ समस्त निरोध के अधिकारी जीवों को भगवद्गुणगान के पश्चात् परमफल की प्राप्ति होती है, यह भाव है। आचार्यचरणों ने यहाँ कृपानंद प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि, भगवद्-अनुग्रह के बिना कृपानंद प्राप्त नहीं हो सकता।

नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे गुणानामपि तथात्वं स्यादित्याशंक्याहुः हृद्गत इति। हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा जनान् प्लावयते मग्नान् कुरुते। रासाब्धाविति शेषः। कृपयैव पूर्वमष्टादशाध्यायोक्तन्यायेन वेणुद्वारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्गणनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम्। अत एव द्वात्रिंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राणनाथै"द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकाना"मित्यारभ्य "तेनैवपूर्णानन्द इतीर्यत"इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम्। यद्वा, स्वगुणान् तद्गणनेन तापकान्कृत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः प्लावयत इति भावः। स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदूरीकरणं युक्तमेवेति भावः। भगवद्गुणानां रसात्मकानां रसरूपतापोद्बोधकता तु "पूर्णाः पुलिन्द्य" इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता। तेन गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः। गुणानां च भगवद्रूपत्वादनुग्रहेतरकोटिसम्भावना न कर्तव्या॥ ८॥

अब यदि यों कह दिया जाय कि, भगवान् के अनुग्रह के बिना अन्य साधनों से कुछ भी साध्य नहीं है, तो यह बात भगवद्गुणगान पर भी लागू होगी अर्थात् फिर भगवद्-अनुग्रह को छोड़कर फिर अकेला गुणगान ही कैसे कृपानंद प्राप्त करा सकता है ? इस शंका का समाधान आपश्री **हृद्गतः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, अपने भक्तों के हृद्गत हुए अर्थात् हृदय में विराजे हुए भगवान् अपना गुणगान सुनकर पूर्ण होकर अपने जीवों को भी रास के सागर में प्लावित कर देते हैं, मग्न कर देते हैं। भागवत के अठारहवें अध्याय में कहे अनुसार सर्वप्रथम कृपा द्वारा वेणुनाद से ही भगवान् भक्तों के हृद्गत होते हैं, फिर उसी प्रकार जब गोपिकाएँ विरह में उनका गुणगान करतीं हैं, तब उनके हृदय में विराजमान भगवान् स्वयं भी तापयुक्त होते हैं और यही भगवान् की पूर्णता है। इसी कारण हमारे भावों के प्राणनाथ आचार्यचरणों ने बत्तीसवें अध्याय (सुबो० १०-३२-१ ; का० १)" में "द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां" इस वाक्य से आरंभ करके "तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते" इस वाक्य तक भगवान् हरि की पूर्णता बताई है। इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि, इस प्रक्रिया के पहले भगवान् पूर्ण नहीं थे अपितु अपने भक्तों द्वारा अपने गुणानुवाद को सुनकर ही पूर्ण होते हैं। अथवा, यों अर्थ कर लें कि विरहतापयुक्त गोपिकाओं द्वारा अपने गुणगान को सुनकर भगवान् अपने गुणों को भी तापात्मक बना लेते हैं और केवल एक विप्रयोग से तो बात पूर्ण नहीं हो सकती अतः श्रृंगार के द्वितीयदल संयोग को भी प्रकट करके पूर्ण होकर भगवान् उन्हें अपने भगवद्-रस द्वारा प्लावित कर देते हैं, यह भाव है। भगवान् के गुणगान द्वारा तापयुक्त हुए जीवों के लिये भगवान् का उन जीवों का दुःख दूर करना तो युक्त ही है। भगवान् के रसात्मक भगवद्गुणों की रसरूप ताप की उद्बोधकता तो "पूर्णाः पुलिन्द्य(श्री०भा० १०-२१-१७)" इत्यादि श्लोकों में स्पष्टरूप से निरूपित की गयी है। इससे ज्ञात होता है कि, गुणगान भगवद्-ताप को बढ़ाने में साधक है। और कारण कि भगवद्गुणगान भी भगवद्-रूप ही है अतः इसे भगवद्-अनुग्रह से भिन्न नहीं समझना चाहिए॥ ८॥

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणगानं स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मादिति।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः॥ ९॥

यतो गुणास्तत्साधकास्तस्मात्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापन्नैर्गुणाः गेया इत्यर्थः। सदानन्दत्वेन परिज्ञेया इति भावः। अयं भावः। "सन्त्यज्य सर्वविषया"निति तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सहेति शेषः। "स्वसखीभ्योन्ववर्णय"न्निति वत्तैः सह गुणा गेया इति भावः। गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिज्ञेया इति भावः। अयमर्थः। गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति। ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्यादित्याशंक्याहुः सच्चिदानन्देति। स्वतस्तेषु सच्चिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः। यतस्तेषु स्वतःसच्चिदानन्दता, अतस्तथा ज्ञात्वा गेया इति भावः॥ ९॥

अब कारण कि भगवद्गुणगान परमफल प्राप्ति का साधन है अतः इसके स्वरूप का ज्ञान रखते हुए गुणगान करना चाहिए। सो गुणगान का स्वरूप आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **तस्माद्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

चूँकि भगवद्गुण परमफल प्राप्त करने के साधक हैं अतः सभी कुछ छोड़कर निरंतर निरोधावस्था में रहने वाले भगवद्भाव से पुष्टिजीवों को सर्वदा भगवान् का गुणगान करना चाहिए, यह अर्थ है।

अर्थात् भगवद्गुणों को सदानन्द भगवान् के रूप में ही जानने चाहिए, यह भाव है। तात्पर्य यह है कि, जैसे गोपिकाओं ने भगवान् से "हम सब कुछ छोड़कर केवल आपके चरणों में ही प्रेम करती हैं(श्री० भा० १०-२९-३१)" इस प्रकार से कहा था, वैसे ही यहाँ जीवों को सभी कुछ छोड़कर निरुद्धजीवों के संग भगवद्गुणगान करना चाहिए। जैसे कि वेणुगीत में "श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर गोपिकाएँ एकांत में अपनी सखियों से उनके रूप, गुण एवं वेणुनाद का आपस में वर्णन करने लगीं(श्री० भा० १०-२१-३)" इस श्लोक में वर्णित किया गया है, वैसे ही निरुद्धजीवों के संग आपस में भगवद्गुणगान करना चाहिए, यह भाव है। आचार्यचरण भगवद्गुणों की विशेषता भगवद्गुणों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये बता रहे हैं। भाव यह है कि, भगवद्गुणों का स्वरूप तो सदानन्द-श्रीकृष्ण ही जान सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि, भगवद्गुणगान के गुण प्रभु ने ही जाने हैं जिन्हें सुनकर वे स्वयं उस गुणगान करने वाले के वशीभूत होकर उसे अपने स्वरूप का रसदान करते हैं। इस भाव को विशेष समझने के लिये देखें-भ०गी० १०-१५ जहाँ यह बताया गया है कि, भगवान् को केवल भगवान् ही जान सकते हैं। इस पर कोई पूर्वपक्षी कहता है - चलिए मान लेते हैं इस बात को तथापि यदि गुणगान में सदानन्दता ही न हो, तो भले ही जीव को यह ज्ञान हो जाय कि गुणगान स्वरूप तो श्रीकृष्ण ही जान सकते हैं, तो भी इससे अंतर क्या पड़ा ? केवल इतना जान लेने से ही गुणों में सदानन्दता आने या न आने का क्या लेना-देना ? तो इसका समाधान आपश्री **सच्चिदानन्दता** शब्द से दे रहे हैं। आपश्री कहते हैं कि, भगवद्गुणगान में स्वयं स्वाभाविकरूप से ही सदानन्दता रही हुई है ; अब चूँकि उनमें स्वयं ही सच्चिदानन्दता रही हुई है अतः जीव को यह बात जानकर गुणगान करना चाहिए - यह भाव है॥ ९॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्यादित्याशंक्य स्वानुभवात्मकपूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥ १०॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवीं गत इत्यर्थः। अत्रायं भावः। भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धानाज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्संगेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति। श्रीमदाचार्याणामपि दैवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात्प्रभ्वाज्ञाद्वयाकरणात्तत्सङ्गजनिततापस्य रोधत्वमिति भावः। एवं च सत्युक्तरीत्या तेषां रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवी पुरःप्रकटरूपेणैव गत इति भावः।

अब यहाँ शंका यह होती है कि, निरुद्धजीव तो भगवद्गुणगान करते हैं, किंतु जिन्हें परमफल की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे जीवों के लिये साधनदशा में गुणगान करना कैसे संभव होगा ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण अपना अनुभव कहते हुए निरोध का स्वरूप **अहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मैं रोध (तापक्लेश) के द्वारा निरुद्ध हुआ हूँ अर्थात् निरोधपदवी को प्राप्त हुआ हूँ। यहाँ भाव यह है कि, भगवान् जिन जीवों पर कृपा करके निरोध का दान देने का विचार करते हैं, वह निरोध अन्य दूसरे निरुद्धभक्तों का संग करने से ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। अतः भगवान् निरुद्धजीवों को भुवि पर प्रकट होने की आज्ञा करते हैं। उन निरुद्धजीवों के संग से जीव के हृदय में जो तीव्र ताप उत्पन्न होता है, उस ताप को रोध कहते हैं। श्रीमदाचार्यचरणों का प्राकट्य भी दैवीजीवों का भक्ति द्वारा निरोध करने के लिये हुआ है और आपश्री ने स्वधाम वापस पधारने की जो दो प्रभु-आज्ञाएँ न मानीं एवं दैवीजीवों का निरोध करने के लिये भूतल पर विराजे ; उन दैवीजीवों के संग से उत्पन्न हुए ताप को रोध कहते हैं, यह भाव है। आपश्री कहते हैं कि, इस परिस्थिति में उन दैवीजीवों के रोध के कारण भगवान् ने मुझे निरुद्ध किया और मैं प्रकटरूप से निरोधपदवी को प्राप्त हो गया, यह भाव है।

निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरभावित्वादाचार्याणां च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा प्राकट्यार्थमाज्ञप्तं, श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते। यथा अहं रोधेन रुद्धस्तथाभूवम्। तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां त्विति। लौकिक इति शेषः। यद्वा, निवेदनेनैतत्स्वरूपेणैव

निरोधयोग्यता भवतीत्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति। निरुद्धानां स्वनिवेदितानां रोधाय भगवत्कृतलौकिकासक्त्यभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः। ते तवेत्यर्थः। त इत्येकवचनेनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं ज्ञापितम्॥ १०॥

निरोध का फल तो विप्रयोग का ताप सहन करने के पश्चात् ही सिद्ध होता है एवं आचार्यचरण तो भगवल्लीला के मध्यपाती स्वरूप हैं अतः उन्हें भगवान् का विप्रयोग होना संभव नहीं है, किंतु जीवों को भगवान् के विप्रयोग का मर्म पता चल सके, इस कारण से भगवान् ने कृपा करके विप्रयोग का स्वरूप समझाने के लिये आचार्यचरणों को भूतल पर विप्रयोग-स्वरूप से प्रकट होने की आज्ञा दी। अतः आपश्री भी जीवों को विप्रयोग का स्वरूप समझाने के लिये अपना अनुभव ही प्रदर्शित कर रहे हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, जैसे मैं रोध के द्वारा रुद्ध हुआ हूँ, वैसे तुम भी रुद्ध हो जाओ। सो, लौकिक में निरुद्धजीवों का रोध करने के लिये मैं निरोध का वर्णन कर रहा हूँ - यह आपश्री **निरुद्धानां** तु इन शब्दों से कह रहे हैं।

अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, इस लोक में भगवान् को सर्वस्व निवेदन कर देने से इस लौकिक स्वरूप द्वारा ही उस जीव में निरोध प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है अतः आचार्यचरण उन जीवों को सीधे-सीधे निरुद्धजीव कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, भगवान् को निवेदित हो चुके जीव जिनकी लौकिक आसक्ति हटाकर प्रभु ने उनका रोध कर लिया है, उनके लिये आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, मैं निरोध का वर्णन कर रहा हूँ - यह भाव है। **ते** का अर्थ है - तुम्हारे लिये निरोध का वर्णन कर रहा हूँ। "ते" शब्द एकवचन है, जिससे ज्ञात होता है कि आपश्री किसी एक जीव को संबोधित करके इतना कुछ कह रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि, निरोध का वर्णन सुनने वाले कितने दुर्लभ थे॥ १०॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा य इति।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥ ११॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः। अत्रायं भावः। अकारणं सर्वदुःखहर्त्रा तत्साधनमविचार्य दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपोद्बोधरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। ये तु अत्र अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद्गोपवच्च मोदं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते। अहनि व्रजवरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत्॥ ११॥

निरोधवर्णन की प्रतिज्ञा करके निरुद्ध का स्वरूप ही **हरिणा ये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का अर्थ यह है कि, हरि ने जिन्हें मुक्त कर दिया है, वे भवसागर में डूब जाते हैं। यहाँ भाव यह है कि, बिना किसी कारण के समस्त दुःख दूर करने वाले हरि ने जीव के जप-तप आदि साधनों की माप-तौल किये बिना जिन जीवों को विशेषरूप से मुक्त (छोड़ दिया) कर दिया है अर्थात् उन्हें ऐसे बना दिये हैं कि वे भगवान् का भावात्मक स्वरूप न जान सकें, वे जीव संसारसागर में डूब चुके हैं एवं दुःख भोगते हैं। एवं जो यहाँ इसी जन्म में भगवान् के भावात्मक स्वरूप द्वारा निरुद्ध हो गये हैं, वे अहर्निश आनंद प्राप्त करते हैं, यह अर्थ है। आपश्री ने यहाँ अहर्निश पद का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि, वे निरुद्धजीव गोपस्त्री एवं गोपबालकों की भाँति आनंद प्राप्त करते हैं। अर्थात् दिन में तो व्रजविलासिनी-गोपिकाओं की भाँति भावात्मकरूप से आनंद प्राप्त करते हैं एवं रात्रि में गोपबालकों की भाँति भावात्मक आनंद प्राप्त करते हैं॥ ११॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगक्लेशे गुणगानदशासमयः(स)तस्य कथं मोदरूपतेत्याशंक्याहुः गुणेष्विति।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥ १२॥

मुरवैरिणः गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहक्लेशौ न स्यातामिति सम्बन्धः। अत्रायं भावः। मुरस्य जलदोषात्मकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्त्या रससागरदोषनिवारकत्वं व्यज्यते। तस्य गुणेष्वानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतेष्वाविष्टचित्तानां तौ न स्यातामिति भावः। चित्ते ह्यावेशोक्त्यान्यावेशाभावो बोध्यते। अत एव सर्वदेत्युक्तम्। भगवत्सेवार्थव्यावृत्तावपि तत्परत्वार्थम्। यथोक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तकाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां "व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदे"त्यादिना।

निरोधलक्षणम्।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, गोपिकाओं एवं गोपबालकों को विप्रयोग का क्लेश होने पर जब वे प्रभु का गुणगान करते हैं , तब वह समय उनके लिये आनंदरूप कैसे हो सकता है ? इसका समाधान आपश्री **गुणेषु** इत्यादि वाक्यों से अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

मुरवैरि भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों में आविष्ट हुए चित्त वालों को संसार का विरह एवं क्लेश कभी नहीं होता, यह संबंध है। यहाँ भाव यह है कि, मुर नामक दैत्य जल का राक्षस था, जलदोषरूप था एवं सागर में रहता था। आपश्री भगवान् को उस मुर का वैरि (शत्रु) कह रहे हैं, जिससे आपश्री भगवान् को रससागर के दोष का निवारण करने वाले कह रहे हैं। उन भगवान् के आनंदमय गुणों में अर्थात् जो गुण विरह के समय उत्पन्न हुए उत्कट ताप के निवारक एवं जीवन प्रदान करने वाले हैं, ऐसे गुणों में आविष्ट चित्त वालों को संसार के विरहक्लेश नहीं होते, यह भाव है। चित्त में भगवद्-आवेश कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि, अन्य दूसरा आवेश नहीं होता। इसी कारण आपश्री ने सर्वदा पद कहा है क्योंकि भगवत्सेवा के लिये व्यावृत्त होने पर भी वह भगवान् में तत्पर रहता है। जैसे कि जीव के उत्कट ताप के निवारक आचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में "व्यावृत्त होने पर भी हरि एवं श्रवणादि में चित्त लगाना चाहिए(३)" इस वाक्य से कहा है।

एवं गुणाविष्टचित्तानां भगवति संसारस्याहन्ताममतात्मकस्य विरहाभाव इति यावत् , विप्रयोगजः क्लेशश्च तावुभावपि न स्याताम्। अयमर्थः। भगवत्यहन्ताममतासहितनित्यसंयोग एव भवेत् , सुखं भवेदिति शेषः। तत्र निदर्शनमाहुः हरिवत्। हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत्। अत्रायं भावः। भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तद्विप्रयोगजक्लेशोपि तथा। "भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मने"ति भगवतैवोक्तस्तदभावः। निवेदनानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकतैव सिध्यति। एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं च स्यादेवेति भावः॥ १३॥

इस प्रकार भगवद्गुणों में आविष्टचित्त वालों को भगवान् के प्रति होने वाले अहंताममतात्मक संसार का विरह नहीं होता अर्थात् उन्हें भगवान् के प्रति अहंताममता सदैव बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि, जीव का अहं एवं मम संसार के प्रति न होकर भगवान् के प्रति हो जाता है। एवं भगवद्विप्रयोग से उत्पन्न होने वाला क्लेश भी नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि, फिर उसे भगवान् में अहंताममता सहित नित्य संयोग ही होता है, सुख होता है। इसका उदाहरण आपश्री **हरिवत्** शब्द से बता रहे हैं। अर्थात् स्वयं हरि की भाँति फिर उन्हें विरह एवं क्लेश नहीं होते। यहाँ भाव यह है कि, जैसे भगवान् को जीव में अहंता-ममता का अभाव कभी नहीं होता अर्थात् उन्हें जीव के प्रति अहंता-ममता सदा बनी ही रहती है, क्योंकि वे जीव को स्वकीय मानते हैं, ठीक इसी प्रकार अपने भक्तों के विप्रयोग का क्लेश भी भगवान् को कभी नहीं होता। स्वयं भगवान् ने ही इस बात को "मैं ही मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय एवं उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझमें और मैं इनमें। मैं ही इनके रूप में प्रकट हो रहा हूँ। अतः तुम्हें मेरा वियोग कभी नहीं हो सकता(श्री० भा० १०-४७-२९)" इस श्लोक द्वारा भगवान् को भक्तों का वियोग नहीं होता, यह बताया है। निवेदन के पश्चात् जीव की भगवत्स्वरूपात्मकता ही बनी रहती है। इस प्रकार से भगवान् की भाँति जीव को विरह एवं क्लेश नहीं होते एवं सुख ही होता है, यह भाव है॥ १३॥

भगवता एवं करणे दयालुतां हेतुत्वेनाहुः तदेति।

तदा भवेत् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति॥ १४॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात्तदा भगवति दयालुत्वं भवेत्। अन्यथा मर्यादादिप्रवेशेन क्रूरता मता सम्मता, पुष्टिस्थानामिति शेषः। भगवता एवं करणेभिमानादिबाधशङ्का मर्यादाद्यतिक्रमात्तत्कृतबाधो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः। बाधशङ्कापीति। अत्र अस्मिन्मार्गे बाधशङ्कापि नास्ति। अपिशब्देन तच्छङ्कैव नास्ति कुतः पुनर्बाधः इति भावो व्यज्यते। भगवदध्यासस्य दृढत्वाद्देहाध्यासाभावान्न बाधशङ्केत्याहुः तदिति। तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः। अपिशब्देन भगवतोप्येतदध्यासो रसरीत्या सिध्यतीति बोध्यते॥ १४॥

भगवान् का ऐसे करने का कारण उनकी जीवों के प्रति सहज दयालुता है, यह आपश्री अग्रिम श्लोक में **तदा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जब जीव ऊपर कहे प्रकारानुसार विप्रयोगदशा में भी गुणगान के माध्यम से सुख का ही अनुभव करने लग जाता है, तब भगवान् उसके प्रति दयालु बनते हैं। यदि पुष्टिमार्गीय जीव पुष्टिप्रभु पर निष्ठा न रख कर मर्यादामार्ग इत्यादि की ओर मुड़ जाय तो, भगवान् क्रुद्ध हो जाते हैं। भगवान् का जीव के प्रति इस प्रकार से दयालुता प्रकट करने में मान लो कि, जीव में अभिमान पनप जाने से कोई बाधा उत्पन्न हो जाय अथवा तो भगवान् ने मर्यादा का अतिक्रमण करके जीव की योग्यता देखे बिना उस पर दयालुता प्रकट कर दी, तो क्या मर्यादा टूटने से कोई बाधा उत्पन्न होगी ? ऐसी दोनों प्रकार की बाधाओं की शंका हो तो उसके प्रत्युत्तर में आचार्यचरण **बाधशङ्कापि** इत्यादि शब्दों द्वारा यह कह रहे हैं कि, यहाँ इस मार्ग में किसी प्रकार की बाधा की तो शंका भी नहीं है। अपि शब्द से यह ज्ञात होता है कि, इस मार्ग में जब बाधा की कोई शंका भी नहीं है, वहाँ बाधा होनी तो दूर की बात है। जब भगवद्-अध्यास दृढ़ है तो फिर देहाध्यास नहीं होतां अतः बाध की शंका नहीं होती है - यह आपश्री तत् शब्द से कह रहे हैं। जीव को भगवान् का अध्यास भी (अनुभूति भी) सिद्ध हो जाती है, यह भाव है। अपि शब्द के द्वारा यहाँ यह ज्ञात होता है कि,, रसमार्ग की रीति-अनुसार भगवान् को भी तब जीव का अध्यास सिद्ध हो जाता है॥ १४॥

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवतोऽलौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरुद्धा निरोधसिद्धिरित्याशंक्याहुः संसारेति।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥ १४॥

संसारावेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः। अत्रायमर्थः। संसारावेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तथात्वं भवेत्। नन्वेतत्सामग्रयाः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशंक्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरूपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः। यतो वस्तूनि सर्वाणि भूम्नः कृष्णस्य। अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः। "क्रीड़ार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते" ," क्रीड़ाभाण्डमिदं विश्व"मित्यादिषु तथैव निरूपितम्।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान् जब दयालु होते हैं, तब सुख प्राप्त होता है परंतु यह जीव तो लौकिक है एवं भगवान् अलौकिक हैं, तो जीव की लौकिकता दूर होकर उसे निरोधसिद्धि कैसे होगी ? इस शंका का समाधान आपश्री **संसार** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

संसार के आवेश से दुष्ट हुई इन्द्रियों के हित के लिये उन्हें निश्चित् रूप से भगवान् के संग जोड़ देनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि, संसारावेश के कारण भगवद्-विनियोग में प्रतिबंध पैदा होता है अतः संसार का आवेश दुष्ट है। इन इन्द्रियों को दुष्टता से बचाने के लिये इन्हें निश्चित् रूप से भगवदर्थ जोड़ देनी चाहिए, इससे इनका हित होगा। किंतु शंका यह होती है कि, पूर्व के श्लोक में (संसारावेशदुष्टानां" इस श्लोक में) इन्द्रिय-आदि समस्त सामग्रियों में लौकिकदोष बताया गया है अतः उन दोषयुक्त इन्द्रियों को निर्दुष्टप्रभु से कैसे जोड़ें, यह समस्या होती है। किंतु यदि इन दोषों का वास्तविक स्वरूप ही जान लें तो इनमें दोष के स्थान पर और उल्टे सुरूपता ही दिखाई देगी अतः आचार्यचरण इनका वस्तुस्वरूप कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, चूँकि इस जगत् में रही हुई समस्त वस्तुएँ भूमा-श्रीकृष्ण की हैं अतः इन वस्तुओं का भगवान् में समर्पण हो जाने के पश्चात् इनमें लौकिकता की शंका नहीं करनी चाहिए, यह भाव है। श्रीमद्भागवत में "हे प्रभो ! आपने अपनी क्रीड़ा के लिये ही समस्त जगत् की रचना की है(८-२२-२०)" , "हे नाथ ! यह संपूर्ण विश्व आपके खेल की सामग्री है(४-७-४३)" इत्यादि श्लोकों में यही निरूपित किया गया है

किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्यादोलंघनेनापि स्वभक्तवश्यता स्थित्या तद्भावानुसारेण तस्य रसदानार्थं रमणं करिष्यतीतिभावः। यद्वा, संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत्। भूम्न इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते। कीदृशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः॥ १४॥

और, वह भूमा-भगवान् तो समर्थ हैं, लौकिक का निवारण करके अलौकिकत्व का संपादन करने में समर्थ हैं। और स्वयं लौकिकरस का भोग करने के लिये अपने स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके और अपने भक्ति के वश होकर उस जीव को उसके भाव के अनुसार उसको रसदान करने के किये रमण करते हैं, यह भाव है। अथवा यह अर्थ कर लें कि संसार के आवेश से दुष्ट हुई इन्द्रियों से संबंधित समस्त भावात्मक वस्तुओं को निश्चित् रूप से कृष्ण के रसभोग के लिये जोड़ देनी चाहिए। यहाँ आपश्री ने श्रीकृष्ण को भूमा कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, स्वयं जीव भी रसभोग करता है, यह सिद्ध होता है क्योंकि भूमा तो सर्वव्यापी है और वह जीव में भी व्याप्त है अतः इस नाते जीव भी रसभोग करता है, यह सिद्ध हुआ। अतः आधिदैविक ईश्वर में इन्द्रियों को जोड़ देनी चाहिए॥ १४॥

ननु संसाराविष्टचित्तदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशंक्याहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं याति कर्हिचित्॥ १५॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः। भगवद्धर्माणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात् , तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैरलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति। कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षाद्यर्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः। यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात्। किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति। अयं भावः। गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः। किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः॥ १५॥

किंतु संसार के आवेश से दुष्ट हुए चित्त वाले जीवों के लिये विराग (वैराग्य) लेकर भगवान् में अनुराग रखते हुए उनमें सभी कुछ समर्पण कर देना कैसे संभव होगा ? यह शंका होती है। इस शंका का समाधान आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **भगवद्धर्मसामर्थ्यात्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

श्लोक का अर्थ यह है कि, भगवद्धर्म के सामर्थ्य से सांसारिक विषयों में वैराग्य दृढ़ हो जायेगा। भगवद्धर्मों का सामर्थ्य ही ऐसा है कि, जिससे जीव के अन्तःकरण में भगवद्धर्म के प्रवेश करने मात्र से ही लौकिकविषयों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है एवं इसके पश्चात् भगवदीयों द्वारा वर्णित भगवद्गुणों के द्वारा अलौकिक स्वरूप से जीव हरि का स्पर्शसुख प्राप्त करता है। कभी मान लो, भगवान् जीव की परीक्षा करने की इच्छा करें, तो भी जीव को दुःख की अनुभूति नहीं होती, यह अर्थ है। अथवा श्लोक का अर्थ यह कर लें कि, भगवद्धर्म के सामर्थ्य से जीव को भगवदीयों में विशेषरूप से प्रेम दृढ़ हो जाता है। भाव यह है कि, भगवद्गुणगान से अलौकिकता आ जाने के पश्चात् जीव उस भाव को प्राप्त करता है, जिस भाव से युक्त जीव का स्पर्श स्वयं हरि को सुखदायी लगने लगता है। और, तब उस जीव के हृदय से विप्रयोग एवं क्लेश के आनंद को अनुभव करनेरूपी दुःख कभी भी निकलता नहीं है, यह भाव है॥ १५॥

एवं निष्प्रत्यूहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः एवमिति।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥ १६॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गादुत्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः। सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न स्थेयमिति ज्ञापितम्। यद्वा, गुणवर्णने य उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भगवदुपदिष्टगोपतुलयाद्(?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः सापत्न्यादिदोषर-हितैरलुब्धैर्भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्तद्भावाप्त्यर्थं व्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः॥ १६॥

इस प्रकार निर्विघ्नता से निरोध के स्वरूप का निरूपण करके निरोध को प्राप्त करने हेतु जीव के कर्तव्य आपश्री एवं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

ऊपरी श्लोकों में आचार्यचरणों ने ज्ञानमार्ग की अपेक्षा इस निरोधमार्ग की महत्ता अधिक बताई है। भगवद्गुणगान की इस महत्ता को समझ कर मात्सर्य जैसे दोषों से रहित होकर एवं ज्ञानमार्ग इत्यादि में जिनकी लालसा न हो, ऐसे जीवों को जब भगवद्-रस का भोग करने की इच्छा हो, तब साथ ही साथ भगवान् की भी इच्छा उत्पन्न करने के लिये सदा भगवद्गुणगान करना चाहिये, यह भाव है। **सदा** पद से यह अर्थ निकलता है कि, क्षणमात्र के लिये भी भगवद्गुणगान से विमुख नहीं रहना चाहिए। अथवा यों अर्थ कर लें कि, भगवद्गुणगान का उत्कर्ष ज्ञानमार्ग की तुलना में अधिक है, यह जान कर एवं "यह सभी कुछ भगवान् के लिये है और भगवान् ने भी यही उपदेश दिया है" यह भी समझकर अमत्सर होकर भगवद्गुणवर्णन करने चाहिए। अमत्सर का अर्थ है - अन्य दूसरे भक्तों के प्रति ईर्ष्या न रखनी। अलुब्ध का अर्थ है - भगवान् जब भक्त के भीतर रहा हुआ अमृत ग्रहण करना चाहें, तब वह रूठ कर न बैठ जाय। सो, गोपीजनों का भाव प्राप्त करने के लिये भक्त को ऐसे इस प्रकार से अमत्सर एवं अलुब्ध होकर भगवद्गुणवर्णन करने चाहिए कि, जैसे व्रजविलासिनी-गोपिकाओं ने अपने समान भाव वाली गोपिकाओं के संग भगवद्गुणगान किया था॥ १६॥

एवं गुणवर्णनस्यावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य तद्वर्णने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्भाव्य परिहरन्ति हरिमूर्तिरिति।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा॥ १७॥

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः। अकारणसर्वदुःखहर्त्रा दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारकस्तस्य ध्येयेति भावः। हीति युक्तश्चायमर्थः। स्वस्य तदर्थप्रयोजनात्सैव ध्येया। ननु तद्ध्यानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः स्यादत आहुः दर्शनमिति। ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः। ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं स्यादित्यत आहुः तथेति। ध्यानेन तथा आकृतिगतिश्च भवेताम्। सदेति नित्यमित्यर्थः। न स भावः पुनरन्यथा भवेत्॥ १७॥

इस प्रकार गुणगान की आवश्यकता को प्रमाणसहित निरूपित करके उस गुणगान की प्रक्रिया में जीव को जो क्लेश सहन करना होता है, वह एक प्रकार का दूषण माना जा सकता है ; इस दूषण का परिहार आपश्री अग्रिमश्लोक में **हरिमूर्तिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि हरिमूर्ति का सदा ध्यान करना चाहिए। अकारण ही समस्त दुःखों का हरण करने वाले हरि का अर्थात् जीवों के दुःख दूर करने के लिये जिस हरि ने मूर्तिरूप धारण किया है, उस हरि की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। यह बात युक्त है - इसे आपश्री "हि" उपसर्ग के प्रयोग द्वारा कह रहे हैं। अपना प्रयोजन तो दुःख दूर करना है अतः हरिमूर्ति का ही ध्यान करना चाहिए। अब यहाँ यह शंका होती है कि, केवल प्रभु की मूर्ति का ध्यान धरने मात्र से कैसे दुःखनिवृत्ति हो जायेगी ? इसका समाधान आपश्री **दर्शनं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि प्रभुमूर्ति का ध्यान धरने से प्रभु के दर्शन, प्रभु का स्पर्श, इत्यादि स्पष्टरूप से हो जाता है। किंतु, प्रश्न यह है कि, प्रभु के दर्शन और प्रभु का स्पर्श करने योग्य जब तक जीव का स्वरूप न बने, तब तक प्रभु का दर्शन-स्पर्श इत्यादि कैसे संभव बने ? तो इसके समाधान में आपश्री कहते हैं कि, हरिमूर्ति का ध्यान धरने मात्र से ही उसके योग्य तुम्हारी आकृति एवं गति भी हो जायेंगी। सदा का अर्थ है - निरंतर। अर्थात् वह भाव सदा बना रहता है, दूषित नहीं होता॥ १७॥

नन्वेतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशंक्य साधकानां तत्सिद्ध्यर्थमुपायमाहुः श्रवणमिति।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्॥ १८॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं स्पष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्यादित्यर्थः। तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनमाहुः। भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति। मलांशत्यागेन यथा पायुर्गृह्यते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनौ स्वकीयत्वेन नयेत्॥ १८॥

परंतु यह सभी कुछ फलदशा में संभव हो सकता है, साधनदशा में नहीं। अतः निरोधसिद्धि के साधकों को फलदशा प्राप्त करने का उपाय आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **श्रवणं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

प्रभु का श्रवण-कीर्तन फलदशा प्राप्त कराते हैं, यह तो स्पष्ट ही है अतः श्रवणकीर्तन करने चाहिए। ऐसा करने से पुष्टिमार्ग की फलदशा प्राप्त होती है। ऐसा आचरण करने वाले जीव को दुःसंग का वर्जन इस श्लोक में आपश्री कह रहे हैं। भगवान् को जो अप्रिय है, उसका त्याग करने में आपश्री **पायुः** इत्यादि शब्दों से उदाहरण दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि, जिस प्रकार मलस्थानक पायु-इन्द्रिय को भी यदि ग्रहण किया जाता है, तो मलांश के त्याग करने के कारण ही ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार बहिर्मुख पुत्र आदि परिवारजनों का त्याग करके ही शेष बचे अलौकिक शरीर को भगवान् के स्वकीय होने के नाते प्रभु की ओर ले जाना चाहिए॥ १८॥

ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं त्यक्तव्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागोनुचित इत्याशंक्याहुः यस्येति।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ १९॥

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथाभावे बाह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पाषण्डित्वमेव। अत एव निबन्धेऽस्मत्प्राणेश्वरैः "कृष्णसेवापर"मिति श्लोकविवरणे सेवापरगुरुरित्यादिना तथैव निरूपितम्। विकल्पेन यस्यार्थे भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते। तदापि निरूपितो यो हस्तः वामहस्तस्तस्य विधिः कर्तव्यः। अयमर्थः। यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावेश्य तस्य त्यागो विधेयः। अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः॥ १९॥

परंतु पशोपेश में पड़ने वाली बात यह है कि, सभी की आत्मा तो आखिरकार भगवान् ही हैं, फिर बहिर्मुख होने पर भी पुत्र-आदि जनों का त्याग कैसे कर दें ? तिस पर भी, अपने अंतरंग होने के कारण भी उनका त्याग करना तो अनुचित ही है। इसका स्पष्टीकरण आपश्री अग्रिमश्लोक में **यस्य** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

इस श्लोक में आपश्री यह आज्ञा करना चाह रहे हैं कि, जिस वस्तु का भगवत्कार्य स्पष्टरूप से दिखाई न देता हो, वह भगवदंश नहीं है किंतु प्रकृति-अंश है **अर्थात् सांसारिक** है यदि अंतर में प्राकृतभाव है, तो बाहर भी प्राकृतरूप से ही आचरण होगा। और यदि अंदर कुछ एवं बाहर कुछ हो, तो वह पाखंडता ही है। इसी कारण हमारे प्राणेश्वर-श्रीमदाचार्यचरणों ने निबंध में "कृष्णसेवापरं" इस श्लोक के विवरण में गुरु के लक्षण करते हुए यह कहा है कि, गुरु वह है जो कृष्णसेवा का केवल उपदेश ही न करे अपितु खुद स्वयं भी कृष्णसेवापरायण हो, अन्यथा वह पाखंडी कहलायेगा। अथवा तो विकल्परूप से इस श्लोक का अर्थ यों समझें कि, जिस कार्य के प्रति यह लग रहा हो कि, भगवान् अपना रसरूपकार्य स्पष्ट नहीं कर रहे हैं, फिर भी ऐसे वामहस्त की विधि कर लेनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि, जैसे मलत्याग के पश्चात् वामहस्त की शुद्धि करके फिर उसे समस्त कार्यों के लिये उपयोगी बनाया जाता है, उसी प्रकार अपना आत्मज होने के नाते अपने बहिर्मुख पुत्र में रहा हुआ अपना पुत्रभाव तो भगवान् को निवेदन करना चाहिए और लौकिक पुत्रभाव को अपने से संबंधित समझकर उसका त्याग करना चाहिए। इस अर्थ में कोई संदेह नहीं है - यह अर्थ है॥ १९॥ यहाँ अध्येताओं से मेरा एक निवेदन है। मैं निःसङ्कोचतया यह कहना चाहता हूँ कि यद्यपि उपर्युक्त उन्नीसवें श्लोक की टीका का यथासंभव अनुवाद तो मैंने कर दिया है, तथापि मैं स्वयं इससे संतुष्ट नहीं हूँ। कारण यह कि, इस टीका की संगति मूलश्लोक के संग मुझसे ठीक ढंग से नहीं बैठ पायी अतः खानापूर्ति के लिये जो अर्थ स्फुरित हुआ, वैसा अर्थ कर दिया है। सुज्ञ महानुभावों से सविनय निवेदन है कि, यदि किसी को भी इसके अतिरिक्त कोई विशिष्ट अर्थ स्फुरित होता हो, तो अवश्य सूचित करें। मैं आगामी ग्रंथ में उनके नामसहित कृतज्ञतापूर्वक उनका बताया अर्थ प्रकाशित करूँगा।

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्यनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्वोपसंहरन्ति नात इति।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥ २०॥

अतः परतरो मन्त्रो नास्ति, तेन मन्त्रादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः। एतदुक्तप्रकारेण स्थेयमित्यर्थः। अतः परतरोन्यः स्तवो न। तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः स्तुत्य इत्यर्थः। अतः परतरा विद्यापि न। या विद्यैकोनविंशाध्याये व्रतप्रस्तावे

निरूपिता सेयमेवेत्यर्थः। अतः परतरं तीर्थमपि न। तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधिदैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम् , अस्य चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारकमन्यदिति भावः। तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं सेव्यमिति भावः॥ २०॥

इस प्रकार निरोधस्वरूप का निरूपण करके निरोध के अतिरिक्त अन्य सभी का निषेध करके निरोध का ही आश्रय करने के लिये अब आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में निरोध की सर्वोच्चता कह कर **नातः** इत्यादि शब्दों से ग्रंथ को संपूर्ण कर रहे हैं।

इस श्लोक में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, इस ग्रंथ से अधिक श्रेष्ठतर मंत्र कोई नहीं है अतः अन्य दूसरे मन्त्रों में विश्वास न रखते हुए इसी ग्रंथ का जाप करना चाहिए और ग्रंथ में कहे अनुसार रहना चाहिए। इस ग्रंथ से श्रेष्ठ कोई दूसरा स्तुतिग्रंथ भी नहीं है अतः इस ग्रंथ में कहे गये प्रकार से प्रभु की स्तुति करनी चाहिए। इस ग्रंथ से अधिक श्रेष्ठ कोई विद्या भी नहीं है। वास्तव में तो जिस विद्या की बात श्रीमद्भागवत के उन्नीसवें अध्याय में व्रत-प्रस्ताव में निरूपित की गयी है, यह वही विद्या है - यह अर्थ है। इस ग्रंथ से श्रेष्ठ कोई तीर्थ भी नहीं है। तीर्थों में प्रतिबंध करने वाले पाप को दूर करने का सामर्थ्य होता हैं किंतु आधिदैविक प्रतिबंधों को दूर करने का सामर्थ्य नहीं होता। यह ग्रंथ आधिदैविक पापों को दूर करता है अतः पापों का निवारण करने वाला इस ग्रंथ से अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरा तीर्थ नहीं है, यह भाव है। अतः प्रतिबंध दूर करने के लिये इसी स्तोत्र का मनन करना चाहिए, यह भाव है॥ २०॥

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः
निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि॥ १॥
निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः।
छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः॥ २॥

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं निरोधलक्षणविवरणं सम्पूर्णम्।

यह श्रीगोपिकाधीश-श्रीवल्लभाचार्य द्वारा सूचित निरोध का विवरण मैंने किया, जिससे आचार्यचरण सदा मुझ पर प्रसन्न रहें॥ १॥

इस विवृत्ति के आधार पर बुद्धिजीवियों को निरोध में रहे किसी भी संशय का समाधान कर लेना चाहिए - यह ध्यान में रखकर ही मैंने आचार्यचरणों की कृपा से इसका विवेचन किया॥ २॥

यह श्रीश्यामलात्मज श्रीव्रजराजविरचित निरोधलक्षण का विवरण संपूर्ण हुआ॥